अंक-16

ISSN 0975-5217
वर्ष 2019

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

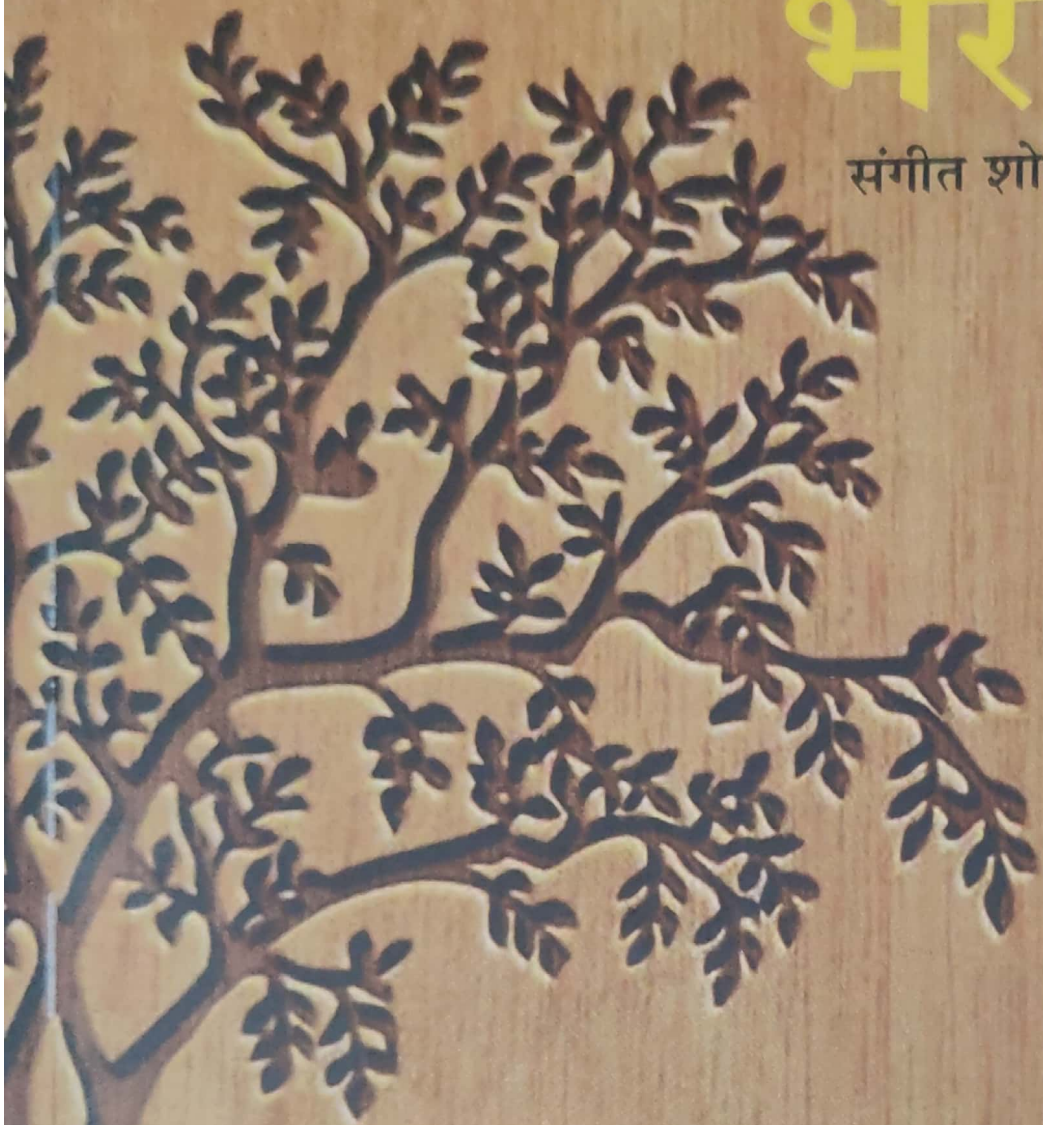

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा (बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2019 अंक 16)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित कला संकाय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

ISSN 0975-5217

वर्ष-2019, अंक : 16

प्रधान सम्पादक

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 400/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 800/- रुपये / त्रैवार्षिक 2400/- रुपये

पंचवार्षिक 4000/- रुपये / आजीवन : 15000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 850/- रुपये / त्रैवार्षिक 2500/- रुपये

पंचवार्षिक 4500/- रुपये / आजीवन : 16000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

''भैरवी'' विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित है। इसकी Journal No. 44277 **है। साथ ही यह Refereed Music Research Journal** है।

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक : छापक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, ग़ाज़ियाबाद-201 102

प्रधान सम्पादक

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण

प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

जपात्कोटि गुणं ध्यानं ध्यानात् कोटि गुणं लय।
लयात्कोटि गुणं गानं गानात् परतरं नाहि।।

(जप से करोड़ों गुणा प्रभावी ध्यान है, ध्यान से करोड़ गुणा लयात्मकता प्रभावशाली है। लय प्रधान जप से करोड़ गुणा प्रभाव गान का है और साधना के लिए गान अर्थात् संगीत से उत्तम उपाय अन्य कोई नहीं।)

'Music is the bridge of peace and love'

'संगीत दो देशों के बीच शान्ति और प्रेम का सेतु है।'

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

संपादक की कलम से ...

संगीत एक सम्मोहन विद्या है। दूसरे शब्दों में जीवन का एक छलकता सुहाना छंद है, संगीत। एक सहज आनंद की अनुभूति है संगीत, जहाँ व्यक्ति सब कुछ भूलाकर अपने को सहजानंद की स्थिति तक पहुँचा देता है। एक खो जाने की प्रक्रिया, तन्मय हो जाने का भाव, अनन्य साधना की स्वर लहरी है। संगीत जो सर्वसाधारण को आकृष्ट करती है। शायद इसी बात से प्रभावित होकर हमारे ऋषि-मुनियों ने इस परिष्कृत विशुद्धतम् कला को ईश्वर एवं जीवन के मिलने का साधन सिद्ध किया है, इसीलिए नानक, कबीर, रैदास, सूर, मीरा, तुलसी आदि महान भक्तों ने संगीत की मनोरम स्वर लहरी में भक्ति भावनाओं को गूंथकर अपने को आत्मविभोर किया था। भारतीय संगीत में धर्म की प्रधानता है। लोक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न धर्मों को मानने वाले अपने-अपने परम्परागत रीति-रिवाजों के अनुसार अपने अपने धमों से पूरी तरह जुड़े हुए है। धर्म से हमारा तात्पर्य उस श्रेष्ठता से है, जिसमें ईश्वर के प्रति अपार आस्था रखते हुए उसकी पूजा अर्चना आदि अलग-अलग विधि तथा ढंग से अपनाया जाता है।

संगीत कला उद्‌गम भले ही मानव की सहज भावनाओं एवं अदम्य प्रेरणाओं के अभ्यन्तर हुआ हो, उसका विकास तथा लालन-पालन धर्म में हुआ है। भारतीय ललित कलाएं धार्मिक अभिव्यंजना पर आधारित रही है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कला वह है जो मुक्ति के लिए उपकारक हो जो कला केवल भौतिक सुख विलास का माध्यम है, वह भारतीय दर्शनिकों की दृष्टि कला का अंतिम लक्ष्य और भौतिक संसार के ऊपर उठकर ऐसी अवस्था को प्राप्त करना, जिसमें भौतिकता के लिए स्थान नहीं। वर्तमान में संगीत धार्मिक होने के साथ-साथ मनोरंजन का साधन भी है। इस बात से भी सभी सहमत हैं कि समाज को किसी क्रांति के लिए प्रेरित करने में संगीत की बहुत बड़ी भूमिका होती है। भारत देश में आजादी की अलख जगाने व जन समूह को उत्तेजित करने के लिए लोकगीतों का सहारा लिया जाता था। अनेकानेक गीतकारों ने अपनी लेखनी व स्वरों की लहरी के बल पर लोगों में वीर रस की उत्पत्ति की जिसने हमें आजाद करने में अपना योगदान दिया। ये गीत इस प्रकार मानव शरीर में स्फूर्ति भरते थे कि उसकी देश के प्रति भक्ति जागृत हो उठती थी। यही नहीं वर्तमान में भी स्वच्छता, रोग-निवारण, सामाजिक कर्तव्यों के प्रति जागरूकता को प्रेरित करने आदि कई विषयों के लिए सरकार लोकगीतों, लोक नाट्यों जैसे नौटंकी, नुक्कड़ नाटकों आदि का सहारा लेती है। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अपने यहाँ बनाई गयी वस्तुओं को बेचने के लिए अपने विज्ञापनों को संगीत के माध्यम से और सशक्त बनाती है। छोटे-छोटे व्यापारी विभिन्न प्रदेशों में वहाँ की लोक-भाषा में अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए संगीत का सहारा लेते है।

संगीत मानव समाज की कल्पनात्मक उपलब्धियों और सांगीतिक, सांस्कृतिक परम्पराओं का मूर्तिमान प्रतीक है। संगीत ही अपनी संस्कृति को अपनी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने का मार्ग भी है। संगीत हमारी आंतरिक प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन बन समस्त सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मनोरम रूप है। संगीत कला आज न केवल संस्कृति के विकास का अंग है अपितु वैज्ञानिक विकास का माध्यम भी बन चुका है। यह सिद्ध हो चुका है कि रोगोपचार के लिए मानसिक ग्रन्थियों पर पड़ने वाला संगीत का प्रभाव महत्वपूर्ण व उपयोगी है। ध्वनि की विशिष्ट गति, तारता तथा तीव्रता अदि का विशिष्ट वाद्यों व रागों के माध्यम से

उत्पन्न प्रभाव मानव की हृदय गति पर पड़ता है। इसी कारण संगीत को चिकित्सा विज्ञान में भी स्थान प्राप्त हुआ अतः मानव के उत्कृष्ट चरित्र निर्माण, अनुशाासनिक बौद्धिक विकास, सामाजिक उत्थान के प्रति जागरूक रहना व प्रेरित करना, अपने ज्ञान की वृद्धि करना संगीत के माध्यम से बहुत ही सरल हो जाता है।

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक की लम्बी यात्रा करते हुए भारतीय संगीत में अनेक उतार-चढ़ाव देखे। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो विविध राज घरानों और साम्राज्यों के उत्थान-पतन का प्रभाव संगीत कला और उसके कलाकारों के जीवन पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। संगीत के विकास क्रम में वैदिक काल की पवित्रता, मध्य युग के हिन्दू राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता, मुगलों की पारम्परिक संगीत के प्रति उदासीनता, एवं अंग्रेजों की उपेक्षा और स्वतंत्र युगों के संघर्ष व चेतना का वह प्रभाव हमें दिखायी पड़ता है। इतिहास साक्षी है कि कलाकारों ने युगों से जो कुछ पाया है अपनी कला में पिरोकर समाज को दिया है। यह संगीत ही तो है जो जीवन को मनोरम बनाता है तथा शुभता के आनन्द को, उल्लास व उत्साह को अपनी लहरियों के माध्यम से और अधिक माधुर्य, रोचकता प्रदान कर उसे अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है। हृदय को धैर्य व सौन्दर्यानुभूति करने वाला संगीत अनन्त है जो कि समस्त जीवन्त प्राणियों के मन को स्वाभाविक रूप से आनन्दित कर हमारे मस्तिष्क को समस्ओं व उलझनों से मुक्ति प्रदान कराता है।

संगीत का संसार अथाह सागर है, जिसमें डूबते-उतराते रहना ही परम आनन्द है। इस पर और भी बाते अगले अंक में करूँगी। भैरवी का सौलहवां अंक आपके हाथ में है। संपादन क्रम में अमित, धैर्य और दृढ़संकल्प का अवलंब लेकर इस शोध पत्रिका को शास्त्र सम्मत, तर्कसंगत और मर्यादापूर्ण बनाने की यथासाध्य चेष्टा की गई है। मुद्रण संबंधी कठिनाईयों के कारण कभी-कभी अनेक त्रृटियां रह जाती है, प्रबुद्ध पाठकों से इस हेतु क्षमा चाहती हूँ।

—प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		7
1.	रस एवं उसके अवयव	डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे	11
2.	भारतीय संगीत में नारी : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य	डॉ. अरविन्द कुमार	15
3.	प्रकृति का प्रथम लोकगीत-लोरी	प्रो. पुष्पम नारायण	18
4.	आर्थिक संकट से जूझता कलाकार	डॉ. बृजरानी शर्मा	22
5.	जीवन वृत्त के रूप में ललित कलाओं की प्रासंगिकता एवं महत्व (प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक काल के सन्दर्भ में)	डा. नमिता यादव	25
6.	बिहार में ख्याल गायन की परंपरा	सौरव कुमार नाहर	29
7.	प्रागैतिहासिक कालीन समय में चतुर्विध वाद्य परिकल्पना	प्रो. रश्मि श्रीवास्तव	32
8.	सुगम संगीत द्वारा सामाजिक सद्भावना का विकास	डॉ. अंजलि नारायण	36
9.	बिहार के तन्त्रीवादकों की संगीत परम्परा	अमरेन्द्र कुमार झा	39
10.	लोक संगीत और जन रजंन	डॉ. श्रुति होड़ा	45
11.	''पंजाब अंग की ठुमरी''	डॉ. मिली वर्मा	48
12.	संगीत का सौन्दर्य सिद्धांत	डॉ. रेखा कुमारी	51
13.	मूर्च्छना के संदर्भ में राग यमन के सम्भावित तान प्रस्तार	डॉ. विवेक वर्मा	54
14.	संगीतर्षि पं. रामाश्रय झा 'रामरंग' का समाज में सांस्कृतिक योगदान	राजीव कुमार	61
15.	संतूर वाद्य एवम् प्रतिनिधि संतूर वादक पण्ड़ित शिव कुमार शर्मा व पण्डित भजन लाल सोपोरी	प्रियंका शर्मा	65
16.	तबले की बंदिशों में दृष्टिगत प्रभाव का अनुशीलन बनारस घराने का सन्दर्भ में	डॉ. दीपक त्रिपाठी	68
17.	तबला वादन (कला और शास्त्र के संदर्भ में)	आकर्षिका	72
18.	काशी का एक अनूठा जलोत्सव बुढ़वा मंगल का मेला (19वीं- 2.वीं सदी)	डॉ. ज्योति सिन्हा	74
19.	लोकधुन का समृद्ध संसार-लोकगीत	डॉ. आभा कुमारी	87
20.	संगीत सम्प्रेषण के विभिन्न माध्यम	प्रगति	91

21.	साम गान : दिव्यालोचन	डॉ अर्चना वर्मा	94
22.	जँतसार : लुप्त होती लोक विद्या	राम ललित कुमार	97
23.	सामाजिक उन्नयन में संगीत की भूमिका	प्रियंका कुमारी	100
24.	फिल्मों में महिला उपशास्त्रीय संगीतज्ञ	रूबी कुमारी	104
25.	तबले की उत्पति : एक अवधारणा	संजीत कुमार	107
26.	मन्त्र गायन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण	डॉ. कामेश्वर कुमार	110
27.	मुस्लिम संस्कार के गीत	डॉ. सुरेन्द्र राम	113
28.	लोक नाट्य के विविध के रूप	डॉ. संगीत कुमार झा	116
29.	जैनकालीन संगीत : एक विचार	हेमलता कुमारी	119
30.	भोजपुरी लोकगीतों में वियोग शृंगार	प्रेम रंजन सिंह	122
31.	संगीत और हमारा जीवन	डॉ. चंदेश्वर प्रसाद कुशवाहा	126
32.	संगीत में ध्वन्यांकन प्रौद्योगिकी का योगदान	दिनान्त भूषण	129
33.	ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपशास्त्रीय संगीत का उद्‌भव	मणिकान्त कुमार	131
34.	आदिवासी के गीत	डॉ. पूनम कुमारी	134
35.	संगीत और मनोविज्ञान का संबंध	राकेश कुमार	136
36.	लोक संगीत सम्पदा	डॉ. अमृता कर्मकार	138
37.	जीवन में संगीत की महत्ता	डॉ. पुष्पवाणी	143

रस एवं उसके अवयव

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

रस भारतीय संस्कृति एवं चिंतन का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है। कला के क्षेत्र का विशेष महत्वपूर्ण पक्ष है रस। भारतीय कलाओं का विशेषकर काव्य की अनुभूति का संबंध रस से है। अन्य कलाएँ जैसे नाट्य, चित्र संगीत आदि का भी रस के साथ घनिष्ट संबंध है। संगीत द्वारा प्राप्त अनुभूति का संबंध भाव तथा आनंद से है, आनंद रस का मूर्त कण है। रस के स्वरूप को आनंदमय बताते हुए उपनिषद् में 'रस हयेवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' कहा है।

यद्यपि रस की सुव्यवस्थित चर्चा सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में की गयी है तथापि इस शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन समय से संस्कृत भाषा में भिन्न-भिन्न अर्थो में होता रहा है। भारतीय वाङ्मय में जिन चार अर्थों में रस का प्रयोग किया गया है, वे इस प्रकार है - (1) सामान्य अर्थ में आस्वाद से संबंधित, जैसे पदार्थ का रस। (2) वेद तथा उपनिषदों में प्रस्तुत अर्थ (3) साहित्य नाट्य आदि का (4) भक्ति तथा मोक्ष का रस

पदार्थ के रस के अर्थ में प्रयुक्त होने का तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ, वनस्पति आदि को निचोड़ कर उससे निकाला हुआ द्रव। यह द्रव रस कहलाता है जैसे- संतरे का रस आदि और इसका आस्वादन भी रस ही है।

साहित्य अथवा कला के क्षेत्र से रस शब्द के प्रयुक्त होने से पहले रस शब्द का प्रयोग वैदिक इतिहास में प्रचुर मात्रा में किया गया है। वेद, उपनिषदों तथा महाकाव्यों में इस पर अनेक रूपों में विचार किया गया है। सामवेद तथा अथर्ववेद में इसका प्रयोग भी गौ दुग्ध, मधु, सोम आदि के लिए हुआ है। उपनिषदों में इसे परम आनंद के लिए प्रयुक्त किया गया तथा महाकाव्यों में ब्रहमानंद के लिए किया गया।

पदार्थ के रस के अर्थ में प्रयुक्त होने से तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ, वनस्पति आदि को निचोड़कर उससे निकाला हुआ द्रव। यह द्रव रस कहलाता है जैसे-संतरे का रस आदि और इसका अस्वादन भी रस ही है।

नाट्यशास्त्र ही सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रंथ है जिसमें रस की शास्त्रीय विवेचना की गयी है और रस का निरूपण नाट्य प्रसंग में किया है आचार्य भरत ने रस को सुनिश्चित तथा सुव्यवस्थित सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। नाट्यशास्त्र का मूल विषय नाट्य कला है और रस की व्याख्या भी नाटक के अंग के रूप में की गई, तथापि अनेक विषयों पर सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रंथ होने के कारण इसे साहित्य, संगीत आदि कलाओं का भी मूल ग्रंथ माना गया है।

भारतीय संस्कृति में सौन्दर्य का लक्ष्य बिन्दु सुन्दरता न होकर रस है। रस आनंद का सीधा स्त्रोत है अतः सभी कलाओं के कलात्मक सृष्टि होने के कारण रस को ही लक्ष्य माना जाता है। कला द्वारा निर्मित रस प्रकृति द्वारा उत्पन्न पदार्थों के रस से भिन्न है। यह रस सौन्दर्यात्मक पदार्थ है। अतः नाट्य तथा अन्य कलाओं से प्राप्त कलात्मक अनुभूति ही रस है। जिसकी व्याख्या भरत द्वारा की गयी है। अर्थात् जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कारित अन्न का उपभोग प्रसन्नचित पुरूषों द्वारा किया

प्रवक्ता, संगीत विभाग एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

जाता है और रस का आस्वादन किया जाता है, उसी प्रकार विविध भावों तथा वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन सहृदय प्रेक्षक द्वारा किया जाता है और हर्ष का अनुभव किया जाता है। अतः नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण इन्हें नाट्य रस कहा जाता है।

रस के अवयवः

रस सिद्धांत को समझने के लिए रस के अवयवों स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को समझना अति आवश्यक है।

भाव चित्तवृतिस्वरूप होते है, मानव की उदीप्त मानसिक स्थिति के सूचक होते हैं। भावों की व्याख्या भरत ने निम्न प्रकार से की है- ''भावा इति कस्मात् कि भवन्तीति भवाः कि वा भावयन्तीति भावाः।'' अर्थात् जो होते हैं, वे भाव है, जो भावित करते हैं वे भाव है।

भाव का अर्थ है जो विभाव द्वारा निष्पन्न होता है और वाचिक, आंगिक तथा सात्विक भावों के अभिनय से युक्त होता है।

वाणी, शरीर के अवयव और चेहरे के रंग, इन तीनों द्वारा कलाकार के हृदयगत भावों को जो भावित करते हैं, वे भाव हैं।

अनेक विविध अभिनयों से रसो का भावन करते हैं, अतः नाट्य निर्माता इन्हें भाव कहते हैं।

डॉ. नगेन्द्र के विचार में भरत के भाव-विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने व्यापक रूप से तीसरा अर्थ ही ग्रहण किया है, जो रस का भाव करें वे भाव है- अर्थात् भाव से उनका अभिप्राय रस-व्यंजक सामग्री का ही है, जिसके अंतर्गत स्थायी संचारी के साथ विभाव और अनुभाव भी आ जाते हैं। 'रस' और 'भाव' का पारस्परिक संबंध बताते हुए भरत कहते हैं, कि भावों से रसों की उत्पत्ति होती है, न कि रसों से भावों की।

'रस' और 'भाव' के संबंध की व्याख्या करते हुए भरत ने नाट्यशास्त्र में इस प्रकार बताया है कि जैसे बिना औषधि के संयोग से व्यंजन स्वादिष्ट नहीं बनता, वैसे ही रस और भाव बिना मनोरंजन संपूर्ण नहीं होता हे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि रस और भाव का घनिष्ट संबंध है और भावों के द्वारा ही रस की प्राप्ति होती है।

स्थायी भाव : स्थायी भाव की स्पष्ट व्याख्या भरत द्वारा नहीं की गयी, अपितु इसकी महत्ता को भरत ने बतलाया है। अनेक समवेत रसों में जिस एक का स्वरूप मुख्य रहता है, वह स्थायी भाव है और अन्य सभी संचारी भाव होते हैं।

भरत ने आठ स्थायी भाव बताए हैं-

रतिर्हाश्च शोकश्च क्रोधोत्साही भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावः प्रकीर्तिता।[1]

अर्थात् रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय ये आठ स्थायी भावों के आधार पर रसों की संख्या भी आठ बतायी है, जो इस प्रकार है-

श्रृंगार हास्य करूणा रौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भु तसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।[2]

अर्थात् नाट्य में माने गये रस आठ हैं- श्रृंगार हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत।

स्थायी भावों और रसों का पारस्परिक संबंध इस प्रकार है-

स्थायी भाव	रस
रति	श्रृंगार
हास	हास्य
शोक	करूण
क्रोध	रौद्र
उत्साह	वीर
भय	भयानक
जुगुप्सा	वीभत्स
विस्मय	अदभुत

स्थायी भाव एक चित्तवृत्ति है अर्थात् अंतःकरण की विशेष अवस्था। स्थायी भाव के द्वारा ही रसास्वादन होता है। यह प्रमुख भाव होते हैं। रसास्वादन के समय शुरू से अंत तक एक भाव प्रमुख रूप से व्यक्ति पर हावी रहता है, यही स्थायी भाव है जिसके कारण नाटक (कलाओं से रंजकता निष्पन्न होती है।

विभाव-भरत ने विभाव की व्याख्या निम्न प्रकार

की है-

बहवोडर्या विभाव्यन्ते वागङगामिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्रेनायं विभाव इति संज्ञितः।।[3]

अर्थात् जो वाणी अंग तथा अभिनय के द्वारा अनेक अर्थों का बोध कराते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। अतः नाटक में जिन साधनों तथा कारणों के द्वारा भाव का बोध होता है, अथवा जिन परिस्थितियों द्वारा बोध की प्रक्रिया संभव होती है, विभाव कहलाती है। इसलिए विभाव को भाव का कारण माना गया है, क्योंकि इनके द्वारा वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय का स्पष्ट ज्ञान होता है।

विभाव के दो प्रकार होते हैं- आलंबन तथा उद्दीपन। आलंबन के अंतर्गत उस पात्र को लिया जाता है जो भाव प्रस्तुत करने का विषय हो अर्थात् जिस व्यक्ति द्वारा भावों को इसकी सीमा तक पहुँचाया जाता है।

उद्दीपन के अंतर्गत परिस्थितियाँ, चेष्टाएँ, क्रियाएँ अर्थात् वे सभी स्थितियाँ आती है, जिसके फलस्वरूप भावों को उत्तेजित किया जाता है।

अनुभाव :

भावोत्पत्ति के समय व्यक्ति की मानसिक स्थिति में कुछ परिवर्तन आता है, जिसके कारण व्यक्ति में अपने आप ही कुछ चेष्टाएँ होने लगती है, जिससे अन्य लोगों को उसके भावों के बारे में ज्ञान होता है। ये चेष्टाएँ जिनके द्वारा भाव के उपस्थित होने का ज्ञान होता है, अनुभव कहलाती है।

अर्थात् जिस वाचिक आंगिक अभिनयों द्वारा दर्शक को अनुभूति का बोध होता है, अनुभव कहलाता है। भरत मुनि ने अनुभावों के तीन प्रकार बताया है- वाचिक अर्थात् वाणी से संबंधित चेष्टाएँ, आंगिक अर्थात् शरीर के विभिन्न अंगों से संबंधित चेष्टाएँ एवं सात्विक अर्थात् अश्रु, रोमांच आदि द्वारा होने वाली चेष्टाएँ। परवर्ती आचार्यों ने एक और वर्ग को जोड़ा, जिसका संबंध वेशभूषा से माना गया उसे आहार्य कहा गया।

व्याभिचारी भाव :

व्याभिचारी भावों को संचारी भावों के नाम से भी जाना जाता है। संचारी भाव किसी विशिष्ट स्थायी भाव के साथ संबंधित नहीं होते, किन्तु पल-पल में बदलते रहते हैं। संचार करने के कारण ही इन्हें संचारी भाव कहा गया।

भरत ने भावों की कुल उनचास संख्या मानी है, जिसमें आठ स्थायी भाव, तैतीस व्याभिचारी और आठ सात्त्विक भावों के बारे में बताया है।

रस संख्या, वर्ण एवं देवता[4]

भरत ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में प्रधान रस चार बताएँ हैं- श्रृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स।

इन्हीं से क्रमशः हास्य, करूण, अद्‌भुत और भयानक रस की उत्पत्ति होती है।

इन आठ रसों का संबंध आठ स्थायी भावों के साथ है। यद्यपि भरत ने नौवें रस का संकेत नाट्यशास्त्र में दिया, किन्तु प्रयोग में विवरण देते हुए केवल आठ ही रसों का प्रयोग किया है। नाट्य के अनुसार आठ ही रस माना है और इनकी उत्पत्ति का श्रेय द्रुहिण (ब्रह्मा) को दिया है।

भरत के परवर्ती आचार्यों अभिनव गुप्त आदि ने एवंतने नवैव रसा कहकर रस संख्या नौ मानकर नवरूप सिद्धांत को प्रतिपादित किया है। इन आचार्यों द्वारा आठ कहे गये रसों के अतिरिक्त शान्त रस को इसके मिलाकर कुल संख्या नौ कर दी गयी।

अभिनव के परिवर्ती काल में आचार्य विश्वनाथ ने दसवें रस वात्सलय को जोड़ दिया जिससे रसों की कुल संख्या दस हो गयी।

कई विद्वान अनेक रसों की धारणा का विवरण देते हैं किन्तु काव्य आदि के संदर्भ में प्रयुक्त रस उपरोक्त वर्णित ही है। नये-नये अनुसंधानों के साथ वर्तमान समय में विभिन्न विचार भी सामने आते रहते हैं, किन्तु यहाँ बतलाये गये तथ्य शास्त्र सम्मत है।

भरत ने रसों के वर्ण अर्थात्‌अ रंगों के संबंध में इस प्रकार बतलाया है-

रस	वर्ण
श्रृंगार	श्याम अर्थात् नीला
हास्य	सफेद
करूण	कपोत
रौद्र	लाल
वीर	चमकीला

भयानक	काला
वीभत्स	नीला
अद्भुत	पीला

भरत ने रसों के देवता को निम्नवत बतलाया है

रस	देवता
श्रृंगार	विष्णु
करूण	यम
वीभत्स	महाकाल
भयानक	काल
वीर	महेन्द्र
अद्भुत रस	ब्रह्मा
रौद्र	महादेव (रूद्र)
वीभत्स	यमराज

स्वर एवं जातियों से रस संबंध[5]

भरत ने स्वर तथा जातियों से रस के संबंध के बारे में भी अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में बताया है। जब स्तर स्थिर होता है तो वह 'भाव' का सूचक बनता है। इस दृष्टि से स्वरों के साथ संबंधित रस तथा स्थायी भव इस प्रकार है-

स्वर -	रस -	स्थायी भाव
षड्ज -	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय
ऋषभ -	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय
गंधार -	करूण	शौक
मध्यम -	श्रृंगार, हास्य	रति, हास
पंचम -	श्रृंगार, हास्य	रति, हास
धैवत -	वीभत्स, भयानक	भय, जुगुप्सा
निषाद -	करूण	शौक

स्पष्टया संगीत द्वारा आनंद रस की निष्पत्ति के कारण होता है। प्राचीन आचार्यों ने इस सिद्धांत पर गहर चिंतन किया और भिन्न-भिन्न विधाओं के साथ रस के संबंध का विवेचन किया। ललित कलाओं में संगीत का प्रमुख स्थान है। संगीत रस निष्पत्ति करने का सबसे प्रभावशाली माध्यम है। भारतीय संगीत का मुख्य अंग राग है और इन्हीं से रस निष्पत्ति होती है।

संदर्भ :-

1. शर्मा डॉ. प्रेमलत्ता, रस-सिद्धान्तः मूल शाखा, पल्लव और पतझड़, पृ.- 41-42
2. UGC NET, SLET Lectureship, p. 297
3. तथैव-297
4. तथैव- 297
5. तथैव- 298

भारतीय संगीत में नारी : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

डॉ. अरविन्द कुमार

हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटक संगीत पद्धति के रूप में भारतीय संगीत की दो धाराएँ वर्त्तमान में प्रवाहित हैं। दोनों धाराओं के संगीत पद्धति को समृद्ध करने में नारियों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों क्षेत्रों में महिलाओं ने बहुमुखी भूमिका निभाई है। नारी-सुलभ सौन्दर्य से जहाँ ये जन-जन को आकृष्ट किया है, वहीं अपनी भावपूर्ण मुद्राओं से नृत्य-भंगिमाओं की सृष्टि की है तथा स्वभावतः मधुर कंठ के कारण गीत की प्रस्तुति में उसके लचीले सहज संचरण ने उसकी सौन्दर्यात्मक आयामों में विस्तार दिया है।

पुत्र-जन्म, यज्ञोंपवीत, विवाह, द्विरागमन, पर्व-त्यौहार आदि समस्त उत्सवों पर स्त्रियाँ अपने कोमल कल-कण्ठों से रमणीय गीत गाकर अपना तथा उपस्थित जनों का पर्याप्त मनोरंजन करती आ रही है। यह प्रथा आधुनिक न होकर अत्यन्त प्राचीन है। मोहनजोदड़ों में उपलब्ध एक कांस्य की मूर्ति भी नृत्य विषयक जानकारी उपलब्ध कराती है। मूर्ति के निर्माण में सुकोमल नारी का ललित अभिनय अंकित है। वैदिक युग में भी मांगलिक अवसरों पर गाथाओं के गाने का निर्देश वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध है। इस युग में नारी ऋषि थी, कवयित्री थी। घोषा, अपाला, लोपमुद्रा, शचीपौलोमी, वागम्भृणी आदि अनेक नारी-स्त्रष्टाओं के मंत्र वैदिक संहिता में संकलित है। इन संहिताओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस काल में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों कलाओं का पर्याप्त प्रचलन था। सामग वाद्यों के साथ ताल कायम रखकर गान करते थे और उनकी पुरनारियाँ करताली देकर यज्ञवेदी के चारों ओर नृत्य करती थी।[1]

सामेत्तर गायन विवाहादि अवसर पर भी नृत्य के साथ होता था। कन्या की सखियाँ तथा कुशल संगीतज्ञ नृत्य गायन वादन करते थे। यज्ञ समाप्ति पर आठ-दस कुमारियाँ नृत्य के साथ गाथा का गायन करती थी। यज्ञ के समय भी साम गायकों की पत्नियाँ जो सत्र में भाग लेती थीं वे अनेक प्रकार के वाद्यों पर साम के स्वरों का वादन करती थीं एवं गायन करती थीं।[2] सूत्र साहित्य में नृत्य-गीत का उल्लेख मिलता है। एक तत्कालीन प्रचलित नृत्य के प्रकार पर सूत्र साहित्य प्रकाश डालता है, जिसमें यज्ञ के अवसर पर स्त्रियाँ जल से भरे घड़े को सिर पर रखकर यज्ञस्थल के मार्जालीय चारों ओर घूमकर नृत्य करती थी। उसे 'उदकुंभ शीर्ष' नृत्य कहा गया है। इसके अवशेष आज भी भारत के लोक नृत्यों में देखे जा सकते हैं।[3]

'शतपथ ब्राह्मण', 'तैत्तिरीय संहिता', 'मैत्रायिणी संहिता' आदि में भी साम-गान स्त्रियों का विशेष कार्य माना गया तथा नृत्य में उनकी विशेष रूचि का उल्लेख किया गया। उस समय संगीत नारी का विशिष्ट गुण माना जाता था। ब्राह्मणकाल में संगीत कुशला नारी राज्यों में दासियों का कार्य करती थी। वे नृत्य और गायन में दक्ष होने के साथ-साथ अन्य ललित कलाओं का भी ज्ञान रखती थी।[4]

रामायण और महाभारत में अनेक स्थानों पर संगीत कला का उल्लेख है। राम जन्म, विवाह, राज्याभिषेक आदि के समय अप्सराओं के नृत्य का उल्लेख प्राप्त होता है। उस समय गान तथा नृत्य में निपुण महिलाओं को राज-कलाकार के रूप में नियुक्त

संगीत विभाग, मगध महिला महाविद्यालय,, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

किया जाता था। इनका कार्य प्रसंग-विशेष पर गीत तथा नृत्य के आयोजन प्रस्तुत करना था। राजस्त्रियाँ तथा अन्तःपुर की अन्य महिलाओं के लिए संगीत शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। वृहन्नला रूपधारी अर्जुन की नियुक्ति विराट की राजकन्या उत्तरा और उसकी सखियाँ की संगीतशिक्षिका के लिये किये जाने का उल्लेख महाभारत में है।

बौद्धकाल की प्रसिद्ध नगरवधू आम्रपाली नृत्य, गीत और वाद्य वादन में सिद्ध थी। आम्रपाली अप्रतिम अद्वितीय सौन्दर्य की स्वामिनी थी। अवर्णनीय सुन्दरता के कारण ही उसे लिच्छवी गण परिषद ने जनपद कल्याणी का पद दिया था। सप्त खंड प्रसाद में अनेक दास-दासियों और अंगरक्षकों से सेवित आम्रपाली रहती थी। यदि लिच्छवियों को अपने नगरवधू आम्रपाली पर गर्व था तो राजनर्तकी शालवती मगध की अनमोल रत्न थी। सभी प्रकार की कलाओं पर और शिल्प में वह पारंगत थी। इसी समय अवंति के राजकुमारी वासवदत्ता भी संगीत कला में विशारद थी।

जैन वाङ्मय में बसन्त सेना, कोषा आदि संगीत निपुण विशारदों का वर्णन आया है। मुनि-सुन्दर सूरकृत ''जयानन्द देवल चरित'' में श्रीपति राजा की तीन पुत्रियों के नाम क्रमशः नाट् सुन्दरी, गीत सुन्दरी, नाद सुन्दरी की चर्चा आई है जो कला विलास नामक जैन उपाध्याय से गुरू-शिष्य परम्परा से विधिवत संगीत शिक्षा प्राप्त की थी। नाट्य सुन्दरी ने विभिन्न प्रकार के नाट्य-नृत्य शैलियों में कुशलता प्राप्त की, गीत सुन्दरी ने वीणा वादन में और नाद सुन्दरी ने गायन शैलियों में प्रवीणता प्राप्त की।[5] चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में एक सामन्त की पुत्री यशोधरा मगध की राजनर्तकी चित्रलेखा से नृत्य सीखने उसके आवास पर जाया करती थी।[6] गुप्त काल में मलविका, हंसपापिका, शर्मिष्ठा, इरावती, इन्दुमती आदि संगीत कल्प में दक्ष महिलाओं का नाम आता है।

वैदिक काल से ही नृत्य-संगीत की व्यापकता भारतीय समाज में रहा है। लोक-जीवन से लेकर नागरिक जीवन तक उसका प्रचार-प्रसार रहा है। राजाओं के यहाँ संगीत शिक्षा के लिए संगीतशालाओं तथा नाट्य-गृहों की विशेष रूप से व्यवस्था थी। राजपुत्रियों के साथ-ही-साथ समाज के संभ्रान्त घर की महिलाओं को भी संगीत शिक्षा दी जाती थीं। गणिकाएँ और देवदासियाँ भी संगीत कला में दक्ष हुआ करती थी। 'बृहत्कथा' से विदित होता है कि उस समय महिलाएँ गायन, वादन तथा नृत्य में विशेष रूचि रखती थी। नरवाहनदत्त की पत्नी नृत्य-संगीत में निपुण थी। नरवाहनदत्त स्वयं एक अच्छा संगीतज्ञ था। एक संदर्भ में उसे मृदंग बजाते तथा उसकी पत्नी को नृत्य करते हुए वर्णित किया गया है।

समय के साथ धीरे-धीरे आराधना व कला प्रधान शास्त्रीय संगीत तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव में उपेक्षित होने लगा और इन कलाओं में भौतिक व शृंगारिक पक्ष उभरने लगा। उच्च कोटि का नृत्य-संगीत अधिकतर गणिकाओं तक सीमित हो चला। इसमें रूचि लेने वाली सम्भ्रांत महिलाएँ पृष्ठभूमि में चली गई। फिर भी रानी मृगनयनी, रानी रूपमती, मीरा आदि इसी मध्ययुग में ख्यात हुई।

भारतीय संगीत को संरक्षित करने में गणिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शास्त्रीय संगीत से सम्बन्धित अनेक गणिकाएँ उभरी और विख्यात हुई तथा विशुद्ध कलासाधिका के रूप में प्रतिष्ठित हुई। धार्मिक एवं पौराणिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि किन्नरियाँ श्रेष्ठ गायिकाएँ होती थी। गांधर्वी और अप्सरायें जो कि स्वर्ग की गणिकाएँ थी नृत्य, संगीत आदि में पारंगत होती थीं। ये सर्वगुणसम्पन्न नारी थी। कला, साहित्य, तहजीब और बातचीत की कला की वह देवी थी।

गणिकाओं के लिए कला साधना भी थी, आजीविका भी। उन्हें राजदरबारों, नवाबों की महफिलों बुलाकर संगीत-कार्यक्रम आयोजित किये जाते तथा समारोहों के बाद उन्हें सम्मानित किया जाता। ऐसी गणिका-कलानेत्रियों में विद्याधरी, बड़ी मैना, उमरावजान अदा, बड़ी मोतीबाई, हुस्ना, गुलबदन, जानकीबाई, जद्दनबाई, बन्ना, अख्तर मुश्तरी, मलिका, राजेश्वरी, गौहरजान, वहीदन, मुन्नीबाई, नंदीबाई आदि नाम उल्लेखनीय हैं। अनेक सामाजिक बाधाओं की शिकार होकर भी शास्त्रीय संगीत परम्परा को अपनी साधना द्वारा निखारने व जीवित रखने का

श्रेय उन्हें ही है, जिसके लिए भारतीय संगीतिक जगत उनका ऋणी रहेगा।

पंडित विष्णुदिगम्बर पलुस्कर एवं पंडित विष्णुनारायण भातखण्डे के प्रयास से संगीत कला को आधुनिक काल में सम्भ्रांत घरानों में फिर से प्रतिष्ठा मिली। महफिलों की जगह संगीत-सम्मेलनों के सार्वजनिक आयोजनों का सिलसिला चल पड़ा। स्कूलों-कॉलेजों में भी संगीत-शिक्षा लड़कियों के लिए दी जाने लगी। संगीत का परिष्कृत रूप सामने आने और संगीत-शिक्षण की सुविधाएँ आम लड़कियों के लिए उपलब्ध होने से शास्त्रीय संगीत समाज में फिर से प्रतिष्ठित भी हुआ, लोकप्रिय भी। पेशेवर गायिकाओं के अतिरिक्त सम्भ्रांत घरों की लड़कियाँ भी शौकिया कलाकार के रूप में सामने आने लगी। शास्त्रीय नृत्य-संगीत का परिष्कृत रूचि सामाजिक सम्मान की प्रतीक बन गई। महिला संगीतज्ञों को प्रतिष्ठा व लोकप्रियता दिलाने में संस्थाओं के अलावा आकाशवाणी और आगे चलकर दूरदर्शन का भी विशेष योगदान रहा जिससे ये कलानेत्रियों ने संगीत के क्षेत्र में नये कीर्त्तिमान स्थापित किए।

आधुनिक गायिकाओं में केसरबाई केरकर, मोगूबाई कुर्डीकर, हीराबाई बड़ोदकर, सिद्देश्वरी देवी, रसूलन बाई, गंगूबाई हंगल, बेगम अख्तर, लक्ष्मी शंकर, गिरिजादेवी, दीपाली नाग, नैनादेवी, पन्नादेवी, वृजवालादेवी, माणिक वर्मा, सुमति मुटाटकर, अंजनी बाई मालपेकर, निर्मला अरुण, मालविका कानन, मीरा बनर्जी, संध्या मुखर्जी, परवीन सुल्ताना, किशोरी अमोणकर, श्रुति सोडोलिकर, अश्विनी भिड़े देशपांडे, सुब्बुलक्ष्मी, बसंत कुमारी, सविता देवी, लता मंगेशकर, प्रभा अत्रे, शोभा गुर्टू, सुलोचना बृहस्पति, सुनंदा पटनायक आदि का नाम उल्लेखनीय है। वादन में अन्नपूर्णा देवी, कल्याणी राय, शिशिर कणाघर चौधरी, एन. राजम्, जरीन दारूवाला, शरणरानी, योगमाया शुक्ल, आबान मिस्त्री, संगीता, कला रामनाथ आदि का नाम गौरव के साथ लिया जाता है। सितारा देवी, दमयन्ती जोशी, रानी कर्णा, त्रावणकोर बहनें, झावेरी बहनें, रोशन कुमारी, कुमकुमधर, यामिनी कृष्णमूर्ति, संयुक्ता पाणिग्रही, सोनल मानसिंह, उमाशर्मा, स्वप्न सुंदरी, हेमामालिनी आदि का नाम गर्व करने योग्य है।

लोकसंगीत पर तो महिलाओं का एकाधिकार रहा है। कोई भी मांगलिक अवसर हो, पर्व-त्यौहारों या किसी घर-आँगन में किसी कारण से मिलना-जुलना हुआ तो जरूर गीत गाया जाता है। भारतीय जीवन का कोई भी पल ऐसा नहीं है जब कोई गीत न गाया जाए। यो तो लोकसंगीत में लगभग सभी महिलाएँ दक्ष होती हैं, फिर भी कुछ नाम है जो सम्पूर्ण देश में लोकप्रिय हुई है—अल्ला जिलाबाई, विंध्वासिनी देवी, शारदा सिन्हा, मालनी अवस्थी आदि।

आदिकला से ही नारी संगीत कला को संरक्षित एवं विकसित करने में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। नारी स्वभाव से संगीत के निकट है। इनकी सुकुमारता, मधुरता, सरसता और भावुकता संगीत की मृदुलता, मधुरता, रसान्विति के अनुरूप है। इनका कंठ का प्राकृतिक माधुर्य और पद-चालन में अदाकारी तथा हाव-भाव प्रदर्शन की कला गायन, वादन एवं नृत्य के लिए उपयोगी है। वर्तमान में भी नारी संगीत कला का ध्वज लहरा रही है। गायन, वादन और नृत्य कला को नये-नये आयाम विकसित कर इस कला को जीवन्तता बनाये रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही है।

संदर्भ सूची :

1. सिंह डॉ. ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 72.
2. मिश्रा डॉ. पूनम, प्राचीन भारत में संगीत, पृ. 14-15.
3. वही, पृ. 17.
4. संगीत, जनवरी-फरवरी 1986, महिला संगीत अंक, पृ. 27.
5. मिश्रा डॉ. पूनम, प्राचीन भारत में संगीत, पृ. 69.
6. व्योरा आशारानी, भारतीय नारी : दशा, दिशा, पृ. 41.

प्रकृति का प्रथम लोकगीत-लोरी

प्रो. पुष्पम नारायण

'मां' शब्द खुद में संपूर्ण है। सृष्टि के सृजन और पालन करने की शक्ति मां को ईश्वर की श्रेणी में खड़ा कर देती है। अगर आप के पास मां है तो आप दुनिया के सबसे सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से हैं। मां, औरत का एक ऐसा किरदार है, जिसमें संपूर्णता, पवित्रता, त्याग, ममता, प्यार सब कुछ निहित है। मां की अंगुली पकड़ कर स्कूल जाने से लेकर शादी-ब्याह रचाकर संतान होने के बाद तक भी हम भले ही उम्र में बहुत बड़े व गंभीर हो जाते हैं, लेकिन मां की चिंता हमारे लिए तब भी वैसे ही रहती है, जैसी कि बचपन में होती थी। अपनी हर सांस के साथ मां अपनी संतान की सलामती व तरक्की की दुआएं मांगती है।

सूर्य की किरणें भी संपूर्ण धरती-आकाश को अपनी स्वर्णिम आभा से क्या चमत्कृत करती होंगी, जो मां के वेदना गर्भ से ईश्वरांश शिशु की किलकारियां करती हैं। सृजन-चमत्कार के ये क्षण अपूर्व-अतुलनीय हैं। आत्मा का उल्लास प्राणों के संगीत में बदल जाता है। देह मृदंग-सी बजने लगती है। मां का गजानन भाव लोरियों में फूटता है और वह आधी-अधूरी से पूर्ण-संपूर्ण हो जाती है। मां प्रकृति ही नहीं, संस्कृति भी है। सृष्टि के बीज भाव मां की हर कल्पना में कहीं-न-कहीं किलकारी मारता, जन्मा-अजन्मा शिशु होता है। सृजन-आंच की अग्नि तरलता का यह रूप अंतः चेतना का नाद स्वर है-

कोख से शिशु जनमा
वक्ष से दूध छलका
हृदय से लोरी... ।

शुभदा पांडेय के शब्दों में ''मां की भाषा में बच्चा बतियाता है, लेकिन सच तो यह है कि मां ही बच्चे की भाषा में तुतलाती है। इतना स्नेह-समर्पण केवल मां ही कर सकती है। इसीलिए पृथ्वी मां हैं। गंधरूप मां। मां और धरती दो ही ऐसी इकाइयां हैं जो किसी भी बात को अपने में स्वीकार कर लेती हैं। जननी का हृदय शिशु की पाठशाला है। छोटे बच्चे तो भगवान् की, परब्रह्म की छोटी-छोटी मूर्तियां हैं। जीवन की महत्त्वाकांक्षाएं शिशुओं के रूप में आती हैं। शिशु ऊपर से देखने पर तो सभी का आश्रित है, किंतु वस्तुतः वही संपूर्ण परिवार का सम्राट् होता है। संतान की आकांक्षाओं का स्रोत, प्रेम का बंधन और जीवन का सर्वस्व है।

वेदों में मां को पूज्य स्तुति योग्य और आह्वान करने योग्य कहा गया है। महाभारत में जब यक्ष ने युधिष्ठिर से सवाल किया कि भूमि से भी भारी कौन है? तो युधिष्ठिर ने जबाब दिया-'माता गुरुतरा भूमेः ।' अर्थात् मां इस भूमि से भी कहीं अधिक भारी होती है।

मां और शिशु के अन्तर्नाल संबंधों की ईश्वरीय व्याख्या है-लोरी। वैश्विक साहित्य की लोक-परंपराओं से रंग-रस ग्रहण कर लोरी अपनी वाचिकता में उनकी बारहखड़ी के प्रथम अक्षर से लेकर अंतिम अक्षर तक प्राण-चेतना के रूप में विराजमान है। लोरी को भले ही साहित्य की शीर्ष विधाओं में स्थान न मिला हो अथवा साहित्याचार्यों ने लोरी के साहित्यिक रूप की विवेचना न की हो या इसकी रचना-प्रक्रिया पर दो शब्द भी नहीं लिखे हों, फिर भी लोरी मां के ममत्व और वात्सल्य की रस-रंगोली है, जीवन की

संकायाध्यक्ष, ललितकला संकाय, ल. ना. मि. वि. वि. दरभंगा।

शिशु-अल्पना है। बीज रस में व्याप्त उत्कट सृजन का शाश्वत् अनुभूति कवच है। प्रसव पीड़ा की लीला भूमि का स्वस्तिक राग, जो हर नारी का प्राप्तव्य है। सफल जीवन के संपूर्णता यज्ञ की पूर्णाहुति। लोरी सृजन-गर्भ का वैवाहिक संगीत है। इसके बीज संगीत की मृदंग-मौली देह के हर रेशे से गूंथी है। धान से भरा यह ऐसा मंगल कलश है, जिसे छुए बिना सृष्टि-साहित्य की परिकल्पना अधूरी है। लोरी का उद्देश्य ही बच्चों को सुलाना होता है और मां सदैव सुख का अनुभव करती है, जब उसका पुत्र-पुत्री सोती है। सुलाने के लिए विभिन्न लालच लोरियों के माध्यम से ही लय और ताल के साथ दिया जाता है।

लाल बेबी सो जा, लाल पलंग पर सोजा
मम्मी पापा आयेंगे, ढ़ेर खिलौने लायेंगे
एक खिलौना टूट गया, मुन्ना राजा रूठ गया

यदि उसमें हम व्याकरण, साहित्यशास्त्र, अलंकार, छंद ढूंढने का प्रयत्न करेंगे तो हमारे हाथ कुछ नहीं लगेगा और यदि मां के भाव-सागर का मंथन करेंगे तो हमारी झोली में उसका अमृता समाएगा नहीं। लोरियां बच्चों के हृदय में न केवल संस्कारों को सींचती हैं, बल्कि भावनांत्मक रिश्ते, सगे-संबंधियों के नाम, विभिन्न पौराणिक-ऐतिहासिक कथाएं, हास-परिहास, ननद-भौजाई के मीठे हास-परिहास, मामा की उदारता, ताऊ का बड़प्पन, चाचा की नटखट बातें आदि सब कुछ लोरियां अपने में संजोए रहती हैं। हर मां अपने शिशु के लिए सुख-वैभव की कल्पना करती है। जो सुख उसने अपने जीवन में नहीं देखा, उस सुख के स्वप्न उस लोरी में अनुस्यूत कर देती है।

लोरियां ज्ञान की पाठशालाएं हैं, जहां से शिशु जीवन के रसरंगों की बारहखड़ी सीखकर जीवन में कदमताल करता हुआ आगे बढ़ता है। कभी ये गीत असत्य में सत्य का भ्रम पैदा करते हैं तो कभी कल्पना में यथार्थ का, तो कभी सत्य को ही इतने सुंदर चित्र में प्रस्तुत कर देते हैं कि इनकी स्त्रष्टा स्वयं आश्चर्यचकित हो उठती हैं। इन लोरी गीतों के चुंबकीय सम्मोहन में बंधा शिशु कभी चंदा को मामा के रूप में देखता है तो कभी चंदा उसे दूध-बताशा, खीर-मलाई खिलाता है और कभी चंदा खिलौना बनकर उसके साथ खेलता है। उसे लोरी सुनाने लगते हैं, कभी चिड़िया सखी बन जाती हैं तो कभी बहनियां। कभी यह सुर-सरिता है तो कभी पुरवइया, कभी अजेय शक्ति है तो कभी इंद्रजाल।

चंदा मामा दूर के, पुआ पकाबे पुर के
अपने खाए थाली में, बऊआ के दे प्याली में
प्याली गई टूट, बऊआ गया रूठ
लाऐंगें नई प्यालियाँ, बजा-बजा के तालियाँ
बऊआ को मनाऐंगे हम, दूध मलाई खाऐंगे

आज भी कृष्ण का बाल रूप हर घर के आंगन में खेलता है और हर मां की गोद में पलता है। हर मां यही अनुभव करती है कि मेरी गोद में बैठा हुआ और कोई नहीं, बल्कि कृष्णा कन्हैया ही है, क्योंकि कृष्ण योग और कला के महान संगम है।

हमारे अलंकार शास्त्रों में नौ रसों का उल्लेख है, पर लोरियों में जो रस प्राप्त होता है, वह शास्त्रोक्त रसों के अंतर्गत नहीं है। अभी-अभी जोती हुई जमीन से जो गंध निकलती है या शिशु के नवनीत कोमल देह से जो स्नेह को उबाल देने वाली गंध है, उसे फूल, चंदन, गुलाबजल, इत्र या धूप की सुगंध के साथ एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। सभी सुगंधों के मुकाबले में उसमें एक अपूर्व आदिमता है, उसी प्रकार लोरियों में एक आदिम सुकुमारता है, जिसकी मधुरता को वात्सल्य रस नाम दिया जा सकता है।

कबीर ने भी कहा है कि 'ढाई आखर प्रेम का पढ़े तो पंडित होए'। शिशु को ऐसा वातावरण चाहिए, जिससे उसके व्यक्तित्व में सकारात्मक ऊर्जा प्रस्फुटित हो। 'शब्द' असीम शक्ति और ऊर्जा का स्त्रोत है और लोरियों का एक-एक शब्द परमाणु की क्षमता रखता है। कभी यह विचार मन में आए ही नहीं कि बच्चा अभी छोटा है, वह क्या सीखेगा। बच्चों की ध्वनियां कब शब्दों का रूप धारण कर लेती हैं- मां को ही नहीं पता चलता। शब्द और वाक्य उसकी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देते हैं।

लोरी मां के हर्षातिरेकपूर्ण वात्सल्य-सागर के छलकने का ही परिणाम है। राग-रागिनियों से ऊपर यह एक ऐसा गान है, जिसमें हृदय का आनंद ही

संगीत-स्वर है। यह लयात्मक अभिव्यक्ति कभी झूला-गीत तो कभी पालना-गीत और कभी लोरी के रूप में सुनाई पड़ती है। मां अपने शिशु को सैकड़ों-हजारों नामों से पुकारती है। राम और कन्हैया के रूप में दुलराती है तो कभी स्वयं कौशल्या और य़ाोदा बन जाती है। वैसे तो गीत-सृष्टि में दुःखातिरेक का भाव है, लेकिन लोरी गीत में हर्षातिरेक का भाव है। गीत के रूप-स्वरूप, भाषा-परिभाषा की अनगिनत बार चर्चा हुई, इसके साहित्यिक स्वरूप पर गंभीर विचार-विम़र्शा हुआ, लेकिन उस यह कि यह मां के हृदय की मौखित अभिव्यक्ति है, जो लयात्मकता और भाव से संपन्न होती है, लेकिन शब्द ऊबड़-खाबड़ होते हैं। जैसे-

चन्दा मामा आरे आब पारे आब
नदिया किनारे आबऽ
बऊआ के मुँह में घुटुक से

शब्दिक तौर पर लोरी एक अपभ्रंश देशज शब्द है, जिसका अर्थ है- बच्चे को सुलाने वाला गीत, जिसे अंग्रेजी में Lullaby अर्थात् To sleep baby full' कहा जाता है।

ये लोरी गीत शिशु के कर्णों में मिश्री घोलते हैं या बताशे। यह तो पता नहीं, परंतु रोते-रोते उनका चुप हो जाना, सो जाना यह तो प्रमाणित करता ही है कि यह उनके बाल मस्तिष्क को सुकून एवं शांति देता है। इन लोरियों की सार्थकता और निरर्थकता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाना है। वही लोरी गीत सफल कहलाते हैं, जो बच्चों के स्नायु-तंत्र को पुष्ट करते हैं। शिशु और लोरी का शाश्वत और चिरंतन संबंध है। चाहे गांव हो या शहर, नगर हो या राष्ट्र अथवा विश्व। यह विश्व के कोने-कोने में अपना परचम फैला रही है। लोरी सोने का पलना, चांदी की डोरी, चंदा मामा, दूध, भात, खीर, बताशे आदि और न जाने कितने शब्दों को सुर, ताल, लय में पिरोकर बनाई जाती है।

लल्ला लल्ला लोरी, दूध की कटोरी
दूध में बतासा, मुन्नी करे तमाशा

छोटे-से-छोटे शिशु को भी सुर, ताल और लय की आवश्यकता है। यही सुरबद्ध संगीत उसे सुलाता है। मजे की बात यह है कि मां द्वारा कुछ गाकर बच्चे को सुलाने की प्रवृत्ति सार्वकालिक, सार्वजनीन और सार्वभौमिक है। यह भी सच है कि लयात्मक, संक्षिप्त और शिशु के मन को आह्लदित करने वाली लोरी की रचना-शक्ति मां के सुख से निःसृत होने वाले ऐसे अद्‌भुत नायाब शब्द हैं, जिनका अन्य किसी भाषा में रूपांतरण संभव ही नहीं है।

नन्हा-सा बालक भी सुर और लय के इस संगम को समझने की शक्ति रखता है। सूरदास भी यही कहते हैं—'हलरावै दुलरावै मल्हावै, जोई-सोई कछु गावै।'' यह 'जोई-सोई कछु गावै' बौद्धिक प्राणियों की समझ से परे है, परंतु अपनी गोद को ही पालना बनाकर झूलाने वाली जोई-सोई कछु गाने वाली मां के हृदय के उद्‌गार ग्रहण करने में वह शिशु क्षणांश भी नहीं लगाता, जिसकी भाषा उस समय मात्र 'रुदन' ही होती है। हर कन्हैया यशोदा के हाव-भाव, निरर्थक-सार्थक शब्द और उनकी लय पहचानता है। इसीलिए डॉ. प्रफुल्ल कुमार सिंह ''मौन्' के शब्द में यह लोरियां 'अटपटे बैन'' ही हैं। उनके विचार में 'अटपटे बैन' भरी इन लोरियों की रचना प्रथमतः स्त्रियों ने ही की थी, जिसने शिशुओं को निद्राभूत ही नहीं किया, बल्कि उनका शारीरिक-मानसिक संपोषण भी किया। इस प्रकार ''बाल-गीत वह पुष्पित पौधा है, जिसकी आंखें सूर्य खोलता है, जिसे चंद्रमा दूध भरी कटोरी से नहलाता है, जिसे पवन अपने पालने में झूलाती है, जिसकी आरती संध्या उतारती है और जिसे मां-बहनें बड़े यत्न से वात्सल्य के आंगन में पाल-पोसकर बड़ा करती हैं।'' कुछ भी हो, कुछ भी कहें, ये सार्थक-निरर्थक गीत, ये अटपटे बैन कब लोरी का रूप धारणकर मानव-इतिहास में स्थान पा गए, कुछ नहीं कहा जा सकता। एक ओर कवियों ने इन 'अटपटे बैनों' को सिर-माथे पर लिया तो दूसरी ओर अनपढ़-अशिक्षित माताएं आज भी इन्हीं अटपटे बैनों से अपनी संतानों का लालन-पालन कर रही हैं।

अतः जैसे मां अपने शिशु को हजारों नामों से पुकारती है, उसी प्रकार हम भी चाहें लोरियों के विषय में कुछ भी कहें कि ये मां की उम्मीदों और आकांक्षाओं का बिंब हैं, चाहे संयुक्त परिवार की ओर संकेत करने वाली हों, सामाजिक ऱीतों को वाणी देने वाली हों या कुछ और।

मुझे लगता है, लोरी एक सदाबहार पौधा है, जिसकी पांखें खोलने के लिए न सूर्य को अपना प्रचंड रूप दिखाने की आवश्यकता है और न चंद्रमा इसे दूध की कटोरी से नहलाता है, न पवन अपने पलने में झूलाता है और न बदलती ऋतुएं उस पर अपना प्रभाव डालती हैं, न संध्या इसकी आरती उतारती है, बल्कि यह पौधा सूर्य की उष्मा, चंद्रमा चांदनी, मलयानिल पवन की खुाबू और संध्या जैसी शांति को अपने में संजोए हुए उस आयुर्वेदिक औषधि के समान है, जो विभिन्न विकारों को दूर करता है। लोरी प्रथम सोपान है, सीढ़ी का पहला डंडा, स्वरमैत्री का पहला स्वर, बारहखड़ी का प्रथम अक्षर।

आर्थिक संकट से जूझता कलाकार

डॉ. बृजरानी शर्मा

वर्तमान आर्थिक एवं भौतिक युग में कला और संस्कृति की बात करना हास्यास्पद सा लगता है। तारों की झंकार की जगह फावड़ों, कुदालों की ध्वनि, स्वर धारा की अपेक्षा बांधों से टकरा-टकरा कर शक्ति देने वाली लहरों का गर्जन और क्रेन जैसी बड़े-बड़े कारखानों की मशीनों की घरघराहट सुनना चाहते हैं। नैसर्गिक छटा, उत्कृष्ट कलाकृति की अपेक्षा खेतों में लहलहाती बाली देखना चाहते हैं। नीचे से ऊपर तक सबकी यही है भविष्य की कल्पना। चाहे समाजवाद हो, साम्यवाद हो अथवा कोई भी विचार धारा। आज का युग ठोस आर्थिक युग है, यह सत्य है, परन्तु यह बात भी उतनी ही सत्य और ठीक है, कि समाज के कल्याणार्थ बाँधों, कारखानों के साथ कला और संस्कृति का विकास भी परम आवश्यक है। देश में केवल अन्न, वस्त्र, धन-धान्य बढ़ जाने से सुख, सन्तोष और शान्ति नहीं मिल सकती। भले ही परोक्ष रूप में हम इसका अनुभव न करें परन्तु है यह शाश्वत और अडिग सत्य। हमारे पास अणुशक्ति है सही, परन्तु उससे हम निर्माण की अपेक्षा विश्व को त्रस्त करते जा रहे हैं, निरस्तीकरण के लिए आगे बढ़ते हैं, गले मिलते हैं शान्ति के लिए, परन्तु हृदय में अविश्वास लिए और शान्तिसूचक वस्त्रों के भीतर भी पैनी कटार छिपाये।

संगीत कला की बात करें तो नाद ब्रहम की अवधारणा, संगीत की आध्यात्मिक पारलौकिक व्याख्या तथा इस मौलिक श्रेष्ठता के प्रति हमारी आस्था, श्रद्धा इतनी गहरी है कि संगीत के उदात्तलक्ष्य 'भव भय भंजन' परमानन्द मोक्ष को हम आज भी निरूपित ही नहीं करते बल्कि व्यामोह के कारण उसी स्वरूप में संगीत को आज भी सुरक्षित रखना चाहते हैं। आज भी हम राग मल्हार से वर्षा, दीपक से दीपों के स्वयमेव प्रदीप्त हो उठने, तोड़ी से मृगों के आकर्षित हो निकट आ जाने जैसी किंवदन्तियों पर विश्वास करने के साथ ऐसे चमत्कारिक प्रभाव की अपेक्षा भी करते हैं। किन्तु अतीत को उसी स्वरूप में वापस लाना काल- गति एवं सृष्टि-नियम के प्रतिकूल है। घर गृहस्थी से सन्यास लेकर स्वामी हरिदास आदि की भॉति संगीत के माध्यम से भगवद् भजन' में हर वक्त लीन रहना, प्राचीन परम्परागत आश्रम व्यवस्था क्रमशः समाप्त हो जाने के कारण वर्तमान परिवेश में अव्यवहारिक है। प्राचीन ग्रन्थों में इस बात के प्रचुर प्रमाण है कि प्राचीन काल में संगीत शिक्षण अपने चरमोत्कर्ष पर था। यह विषय राष्ट्रीय सम्मान का माना जाता था। संगीत शिक्षकों को राजाश्रय प्राप्त था। उनकी आर्थिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का बोझ राज्य वहन करता था। अतः वे पूर्ण रूप से कला के लिए समर्पित होकर उच्चतम ज्ञान प्राप्त करके शिष्य वर्ग को पूरी लगन एवं समर्पण की भावना से शिक्षा प्रदान करते थे। शिष्य वर्ग श्रद्धा, लगन, त्याग एवं जिज्ञासा से संगीत शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरू-शिष्य परम्परा में शिक्षा अमूल्य दान था, गुरू छात्रा से प्रशिक्षण के लिए किसी आर्थिक प्रतिदान की आशा नहीं करते थे, क्यों कि शाही संरक्षकों से उपहार और चंदे के रूप में प्राप्त भूमि और धन से अपने छात्र के लिए वस्त्र व भोजन की व्यवस्था करते थे। किन्तु शाही संरक्षण शिथिल होने के साथ ही शिक्षक में शिक्षा

विभागाध्यक्षा- संगीत विभाग, श्री टीकाराम कन्या महाविद्यालय, अलीगढ़। (उ.प्र.)

देने और छात्र की निष्ठा समाप्त हो गई और शिक्षक को अपने जीविका साधन की खोज करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

प्रायः यह सुनने को मिलता है कि मात्र संगीत दरबारों के बन्धन से मुक्त होकर उन्मुक्तता की सांस ले रहा है और सर्वसाधारण के लिए संगीत शिक्षण सुलभ हो गया है। स्वतन्त्रता की बात करने वाले यह कह कर प्रसन्न हो जाते हैं और सुनने वाले सुनकर गद्‌गद्‌। उनकी सोच के अनुसार मध्यकाल में राजाश्रित होने के कारण संगीत राजा, महाराजा, सुल्तान, बादशाह लोग गवैयों से अपनी तारीफें सुनना पसंद करते थे और वह अपनी कला की प्रस्तुति उनकी रूचि के अनुरूप ही करते थे। किन्तु क्या सदारंग, मिया तानसेन आदि उच्च कोटि के कलाकार मात्र खुशामद से ही प्रसिद्ध हो गये। ऐसा नहीं था, पहले के प्रतापी सम्राट संगीत के इतने अच्छे जानकर और पारखी हुआ करते थे कि अपनी परख से संगीत रत्नों को अपने दरबार में इकट्‌ठा किया करते थे, उन्हें आश्रय देते थे उनकी कला का सम्मान करते थे। राजाश्रित होने के कारण कलाकारों को अपनी तथा अपने परिवार की जीविका की चिन्ता नहीं थी।

आज गुरू-शिष्य परम्परा लुप्त हो चुकी है। राजाश्रय समाप्त होने के कारण संगीत कला का पेट नहीं भर रहा है। आर्थिक कष्ट इतना है कि मात्र कार्यक्रमों से उनकी जीविका नहीं चल पाती और जहॉ पेट का सवाल होता है, वहॉ कला का विकास अवरूद्ध हो जाता है। विवश होकर उन्हें अर्थोपार्जन की तरफ ध्यान देना पडता है । कुछ गिने चुने ही कलाकार हैं जो आर्थिक रूप से सम्पन्न हैं। उनकी योग्यता, उनकी साधना उन्हें पूर्ण ख्याति देती रहती है। इसके सहारे अपने कार्यक्रम के प्रदर्शन से वह इतना कमा लेते हैं कि उन्हें अन्य कोई नौकरी नहीं खोजनी पड़ती। किन्तु अधिकांश कलाकार अपने कार्यक्रम से अपना भरण-पोषण नहीं कर पाते।

आज के कलाकार जैसा आर्थिक संकट उस समय के कलाकारों को नहीं झेलना पड़ता था क्योंकि आज का संगीतज्ञ उस प्रयोगवाद के युग में संगीत के तरह-तरह के प्रकारों और रूपों को देखता है और उनका सामना करता है। आम जनता एक फिल्मी गायक के सामने शास्त्रीय संगीत के अच्छे गायक को सुनाना पसंद नहीं करती। नई-नई तर्जे जिनमें देशी-विदेशी तर्जो का बेतुका, कर्कश और भावुक मिश्रण होता है, लोगों को पसंद आता है। संगीत के संसार में तरह-तरह के इतने कर्कश और अभारतीय स्वर गूंज गए हैं कि संगीत की मधुर अमर वाणी अब नहीं सुनाई पडती। संगीत शास्त्र के मनीषी स्वर्गीय भातखण्डे जी से एक बार एक कुशल और मशहूर मुसलमान संगीतज्ञ ने एक बड़ी ऊँची और पते की बात कही- उन्होंने आज के युग के संगीत प्रेम पर टिप्पणी करते हुए कहा- पहले कद्रदान हमारे गुलाम हुआ करते थे और अब हम नाकद्रों के गुलाम हैं। यह तीव्र आलोचना अवश्य है मगर इस व्यंग्यात्मक वाक्य में एक गहरा सत्य भी छिपा है कि इस देश का परम्परागत प्राचीन संगीत अब किसी हद तक बहुत तरह के नाकद्रो का गुलाम बन गया है और इसके मूल में छिपी है‘ भूख’। शास्त्रीय संगीत के इस तिरस्कार से संगीत कला भूख से कराह रही है। कुछ गिने चुने कलाकारों को छोड़ कर सैकड़ों ऐसे हैं जिनका संगीत का पेशा है और जिनका समाज में कोई निश्चित स्थान नहीं है, जिनके रोटी के लाले पड़े हुए हैं। ऐसे कलाकारों का दोष केवल यही है कि उन्होंने बाजारू, भावुक, संगीत का तिरस्कार करके प्राचीन शास्त्रीय संगीत को अपनाया। आज धनवान अथवा पूँजीपति यदि संगीत का शौक करना चाहते हैं तो फिल्म की किसी अभिनेत्री अथवा फिल्म संगीत के किसी प्लेबैक सिंगर को बुलाकर हजारों रूपये खर्च करके अपना शौक पूरा कर लेते हैं। हल्के फुल्के गानों से उन्हें जो आनन्द आता है, वह रागालाप में कहाँ ? यद्यपि आजकल शिक्षण संस्थाओं में संगीत एक विषय के रूप मे सिखाया जाता है तथा अनेक संगीत शिक्षा के केन्द्र भी हैं। भारत सरकार ने भी संगीत के विकास की ओर ध्यान दिया है, रेडियों, संगीत सम्मेलनों, संगोष्ठियों, परीक्षाओं के लिए संगीत संस्थाओं की स्थापना, जिसके लिए अनुदान की व्यवस्था की गई, संगीत नाटक अकादमियों, सांस्कृतिक केन्द्रों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों के फलस्वरूप संगीतकारों के लिए

जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध हुए है, पर वह ऊँट के मुँह में जीरे' के समान भी नहीं है। यही कारण है कि संगीत का स्तर भी दिन प्रतिदिन गिरता जा रहा है। मेरा समाज के संभ्रान्त संगीत प्रेमी श्रोताओं से अनुरोध है कि कलाकारों की निर्धनता का यह कटु सत्य प्रशासन वर्ग तक पहुँचायें जिससे संगीत कलाकारो के लिए कुछ ऐसी संस्थायें स्थापित हो सकें जो हमारे उच्च कोटि के कलाकारों को आश्रय प्रदान करें, ताकि उनके जीविका चलाने की जो मुख्य समस्या संगीत कला की साधना में आड़े आती है, उससे उन्हें मुक्ति मिले साथ ही ऐसी संस्थाओं में विद्यार्थियों का प्रवेश बिना पक्षपात के उनकी योग्यता के अनुसार किया जाए। इस प्रकार से गुरू-शिष्य परम्परा की सभी मर्यादा, कुलीनता तथा निपुणता स्थापित की जा सकती है।

इसके साथ ही संगीत शिक्षकों, कलाकारों को भी सचेत होना पड़ेगा, उन्हें विद्यार्थियों को अर्थोपार्जन के लिए संगीत के क्षेत्र में जो विभिन्न आयाम हैं उनका ज्ञान भी देना आवश्यक है जैसे- संगीत वाद्य निर्माण कला एवं मरम्मत, रख रखाव, सामूहिक गायन, वाद्य वृन्द वादन, वृन्दगान वादन, नृत्य निर्देशन, गीतों बन्दिशों को स्वरों में बाँधना, संगीत समीक्षा सिद्धान्त, चिकित्सा, कृषि आदि में संगीत, म्यूजिकलथेरेपी जैसे अनेक क्षेत्र हैं जिनमें संगीत के माध्यम से विशेष योग्यता द्वारा मात्र मनोरंजन अथवा संगीत शिक्षक की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से कैरियर के लिए अनेक आकर्षक अवसर उपलब्ध हो सकते है। इससे संगीत अन्य तकनीकी व्यवसायों जैसा आकर्षक बन सकेगा। इस पृष्ठभूमि में इंजीनियरिंग, मेडिकल कालेजों, प्रबन्धन संस्थानों, टेक्नॉलाजी संस्थनों की भाँति संगीत शिक्षण उच्चानुशीलन संस्थान वर्तमान शास्त्रीय संगीत की महत्वपूर्ण समस्या का सामाधान कर सकते हैं जिससे संगीत की गरीबी दूर होगी और धनोपार्जन परक शिक्षा सिद्ध हो सकेगी।

आदि काल से संगीत हमारे संस्कृति, धर्म और जीवन का अभिन्न अंग रहा है, इस कला के उत्थान से ही संस्कृति और संस्कृति से देश का कल्याण संभव है। अपेक्षित संस्कृति के अभाव में गगनचुम्बी अट्टालिकायें बड़े-बड़े कारखाने तथा सैकड़ों पंचवर्षीय योजनायें भी देश का कल्याण नहीं कर सकतीं इस बात को हमें समझना चाहिए।

जीवन वृत्त के रूप में ललित कलाओं की प्रासंगिकता एवं महत्व (प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक काल के सन्दर्भ में)

डा. नमिता यादव

कला मानव संस्कृति का उपादान है। प्रकृति में संघर्ष करते हुए मानव ने श्रेष्ठ संस्कार के रूप में जिस सौन्दर्य बोध की अनुभूति की, कला में उसी का आविर्भाव है। भारतीय संस्कृति में रस तथा सौंदर्य आत्मगत होता है। इन्द्रियों द्वारा किसी अभिव्यक्ति को ग्रहण करने की प्रक्रिया से यदि आत्मा को रसानुभूति द्वारा आनन्द की प्राप्ति होती है तो उसे कला कहते हैं ''मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है ''अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति कला है।'' 'कला' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में हुआ है।

'यथा कलां तथा शफं तथा ऋणं संनयाभसि।' माध्यम भी इन कलाओं का प्रमुख तत्व है। जिसका प्रयोग प्रत्येक कला में भिन्न-भिन्न रूप से होता है। नृत्य कला का माध्यम जहाँ लय है-गायन का माध्यम स्वर है चित्र कला का माध्यम रंग व रेखाऐं-नाट्य कला का माध्यम अभिनय एवं रंगमंच तथा मूर्ति का माध्यम सामग्री का उचित संयोजन उसकी लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई तीन मात्रओं का गौण रूप में वर्ण द्वारा अभिव्यक्ति है। सभी कलाओं के माध्यम भिन्न-भिन्न होते हुए भी सौन्दर्य अनुभूति कराना ही अन्तिम लक्ष्य है।

इन तत्वों के अतिरिक्त बिम्ब एवं प्रतीक भी ऐसे तत्व हैं जिनका इन सभी ललित कलाओं में समान रूप से महत्व है। कल्पना में चित्र तत्व या बिम्ब विधान समाविष्ट रहता है यही कल्पना नृत्य, चित्र और मूर्ति रूप ग्रहण करती है।

'ललित कला' का ललित शब्द ही लालित्य का द्योतक है। इसमें समग्रहित सभी कलाओं की अनेक विशेषतायें समान हैं। अतः ललित कलाओं का अन्तः सम्बन्ध तो बहुत दृढ़ एवं स्पष्ट है। प्रत्येक कला अपने चरम विकास के क्षणों में अन्य भगिनी कलाओं का आश्रय ग्रहण करती है और जब ये कलायें एक दूसरे का सहयोग लेकर प्रस्फुटित होती है तो परस्पर भेद विलीन हो जाते हैं।

कपिला वात्स्यायन के अनुसार-''भारतीय शास्त्रीय कला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्य, साहित्य, संगीत एवं वास्तु नृत्य अपने माध्यम में अपने नियमों के द्वारा विकसित हुये हैं। उन्होंने न केवल उसमें निहित भारतीय धार्मिक दार्शनिक मत को आपस में साझा किया है बल्कि आपस के संबंध के प्रतीक एवं आध्यात्मिक स्तर को भी साझा किया है।

भारतीय ललित कलाओं को गहराई से जानने के लिए उसमें समाहित दार्शनिक विचार, विस्तृत साहित्यिक इतिहास एवं सामाजिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य को समझना होगा। भारतीय कलाओं को एक शिखर से दूसरे शिखर पर जाने के लिए लगातार चुनौतियों का सामना करना पड़ा। ललित कलाओं में सौन्दर्य, रसानुभूति, सहजता, धर्म, आनन्द भाव, गुण के अनुपात, सन्तुलन लय ताल आदि समान रूप से स्थिर होते हैं भारतीय कलाओं की सर्वाधिक विशेषता उनकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति रही है।

संस्कृति के इन कला दर्शन के परिप्रेक्ष्य में संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्तिकला में अटूट प्रेम झलकता है। भारतीय दृष्टि में कवि, चित्रकार, संगीतकार, मूर्तिकार की पारस्परिक दृष्टि सौहार्दपूर्ण रही है तथा सभी कलाओं का लक्ष्य एक ही है क्षेत्र अलग-अलग

Associate प्रोफेसर, संगीत गायन, राजर्षी टण्डन महिला महाविद्यालय, संघटक इलाहाबाद विवविद्यालय, इलाहाबाद
E-mail : namita_sangeet@rediffmail.com

होने के बाद भी सभी कला में भावभिव्यक्ति ही है। हृदयगत भावानुकूल निरूपण ही कला है और ये कलायें अपने-अपने धर्म गुणों के कारण परम आनंद को प्राप्त कराती है। और यही गुण समस्त कलाओं में समानता स्थापित करता है।

पाँच कलायें ललित कला के अन्तर्गत आती है-जैसे संगीत कला, काव्य कला, चित्र कला, मूर्ति कला व शिल्प कला। संगीत और कविता श्रव्य जबकि बाकी कलायें दृश्य हैं।

सांगीतिक इतिहास पर यदि दृष्टि डालें तो ललित कलाओं के विषय में उपयोगी ज्ञान प्राप्त होता है।

ललित कलाओं के लिये पाणिनि ने शिल्प शब्द का प्रयोग किया है जो मूलतः कला कौशल का बोधक है। शिल्प का विभाजन पाणिनि ने चारू तथा कारू दो विभागों में किया है। जिसको बाद में क्रमशः ललित और उपयोगी नामों से कहा जाने लगा। चारू शिल्प के अन्तर्गत संगीतादि ललित कलाओं का अन्तर्भाव था, कारू शिल्प में कुम्भकार, सुवर्णकार, लुहार आदि लोगों का क्रिया कौशल अन्तर्भूत था।

कला के भारतीय दृष्टिकोण समझने में वात्स्यायन के काम सूत्र में वर्णित कलाधारों की महती भूमिका है यहाँ जिन 64 कलाओं की व्याख्या की गयी है उनमें काव्य के स्थान पर संगीत को प्रथम अंग माना गया है। (1 गीत, 2 वाद्य, 3 नृत्य, 4 नाट्य) और इसी श्रृंखला के तत्काल बाद आलेख क्रमशः इसके पाँचवे भाग पर उपस्थित होता है। ललित कलाओं का संबंध शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है ग्राम निवासी व्यक्ति ललितकला में निपुण होने पर स्वाभाविक रूप से नगर की ओर आकृष्ट हो जाता था।

बिना तु नृत्ये शास्त्रो चित्र सूत्रम् सुदविर्दम।

मार्केण्डेय मुनि कृत विष्णुध्योत्तर पुराण के 'चित्रसूत्रम्' में चित्रकला सीखने से पूर्व संगीत ज्ञान की आवश्यकता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। भरत कृत नाट्य शास्त्र में नाट्य एवं संगीत की विस्तृत चर्चा के साथ रंग और भाव का सम्बन्ध स्वीकार किया है और प्रत्येक रस के लिए पृथक रंग का उल्लेख किया है।

अर्थशास्त्र के साक्ष्य से स्पष्ट है कि नाट्य तथा संगीत कला को राज्याश्रय प्राप्त था। इनके पाठ्य क्रम में वैश्विकी कला के अतिरिक्त गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, वीणा तथा मृदंग की शिक्षा सम्मिलित थी। ललित कला की इन संस्थाओं का प्रवर्तन राज्य की ओर से होता था। ऐसी संस्थाओं में गणिकाओं के अतिरिक्त उनके वंशज तथा संगीत का व्यवसाय करने के इच्छुक अन्य शिक्षार्थियों को प्रवेश दिया जाता था।

जैन सिद्धान्त ग्रन्थों में प्राचीन ललित कलाओं के अन्तर्गत 72 अथवा 64 कलाओं की गणना पाई जाती है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र से स्पष्ट है कि गीत, नृत्य आदि कलाओं को शासकीय प्रोत्साहन प्राप्त था।

मनुष्य की आदि संगिनी ये कलायें आज विकसित एवं सभ्य समाज में भी परस्पर जुड़ी हुई दृष्टिगोचर होती है। आज भी गाँव में प्रत्येक घर में विभिन्न तीज, त्यौहार तथा अन्य धार्मिक उत्सव के अवसर पर महिलायें देवी, देवताओं की मूर्तियाँ एवं चित्र बनाकर उनकी आराधना नृत्य संगीत के माध्यम से करती हैं। लोक जीवन तथा लोक कला में आज भी यह कला जीवित है। ये कलायें स्वतः ही परस्पर अन्तर्सम्बन्ध देखने को मिलता है। भगवान शिव की नटराज का विश्वनर्तन है जो कि नृत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला तीनों में व्यक्त किया गया है चित्रकार रंग रेखाओं चित्रों के माध्यम से, मूर्तिकार शिल्प के माध्यम से तथा नृत्यकार ने भाव भंगिमाओं एवं मुद्राओं के माध्यम से अपनी-अपनी अभिव्यक्ति की है।

इस शोध पत्र में अब तक लिखे गये तर्कों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय ललित कलायें भारतीय संस्कृति की समृद्ध सम्पदा है-इनका वर्तमान युग में किस प्रकार संरक्षण एवं संवर्धन किया जाये व इन्हें रोजगार परक बनाया जा सके, इस पर चर्चा करना आवश्यक है।

आधुनिक समाज अर्थ प्रधान समाज है और इसमें अर्थ की महत्ता निरन्तर बढ़ती जा रही है। हमारी भारतीय ललित कलायें भी इस सम्मोहन से अलग नहीं हो पा रही है और जहाँ अर्थ अथवा धन की बात आती है वहाँ निश्चित ही निवेश, प्रबन्धक

तथा योजना इसमें सम्मिलित हो जाते हैं। रोजगार की दृष्टि से एक से अनेक तक व्यापकता का आधार भी व्यापार कहा जाता है। अर्जित करने की व्यस्तता भी व्यापार समझा जाता है। किसी लागत मूल्य में लाभांश को आकार देना भी व्यापार कहा जाता है। एक संगीतकार, चित्रकार, मूर्तिकार, कवि, नाट्ककार, नृत्यकार च्तवकनबमत और च्तवकनबज दोनों होता है। प्रायः बाजारीकरण दूसरों के हाथ में होती है इसका एक पक्ष नौकरी भी है। जहाँ स्थापित व्यवस्था के अनुकूल चलना प्रमुख है जहाँ जरूरत के अनुसार अपनी क्षमता का उपयोग होता है।

जन मनोवृत्ति को अपनी ओर करने में कला और कलाकार दोनों का उपयोग होता है इस दृष्टि से कला द्वारा कुछ अर्जित करने के विविध आयाम दिखाई पड़ते हैं ख्याति और धन का लोभ, लाभ बहुमत में है और यह सब आज के अर्थ प्रधान व्यापार की अनिवार्यता है।

यदि हम ललित कलाओं- संगीत कला, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, नृत्यकला से रोजगार की संभावनायें तलाते हैं तो इनके लिए हमें समाज के साथ-साथ चलते हुए दीर्घकालिक निवेश के रूप में योजनाबद्ध ढंग से प्रबंधन करके धनागम की रूपरेखा तैयार करनी होगी।

रोजगार के रूप में मंचीय कलाओं- गायन, वादन, नृत्य, नाट्य, कविता, चित्रकला को किस प्रकार रणनीति, योजना एवं प्रबन्ध द्वारा संचालित कर संभावनायें प्राप्त की जा सकती हैं, इसकी चर्चा करें।

मंचीय ललित कलाओं से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जुड़े हुए ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जिन्हें व्यवसाय के रूप में अपनाकर कला सेवा के साथ ही रोजगार भी किया जा सके। कलाकार, संगीतकार, आयोजक, गीतकार या रचनाकार, संगीतकार, वृन्दवादन, संगीत निदेशक, नृत्य आकल्पक, वाद्ययन्त्रों का निर्माण व मरम्मत करने वाले शिल्पी, ध्वनि व प्रकाश की व्यवस्था करने वाले तकनीशियन, मंच सज्जा, रूप सज्जा, रिकार्डिंग, सांस्कृतिक पत्रकारिता इत्यादि। संगीत शास्त्र से सम्बन्धित व्यवसायों में- शास्त्रकार, लेखक, ग्रंथों का टंकण तथा मुद्रण, ग्रंथालय और व्यवस्था, ग्रंथ समीक्षक इत्यादि।

काव्य कला चित्रकला, मूर्तिकला हेतु निम्नलिखित व्यवसाय संभव हैं शिक्षक, कलाकार, शास्त्रकार, समीक्षक, संवाददाता, उद्घोषक, संयोजक, तकनीशियन, पत्रकारिता इत्यादि। यह श्रव्य एवं दृश्य श्रव्य कलायें शिक्षण एवं प्रस्तुतिकरण दो आयामों से जुड़ी हैं। ललित कलाओं का मुख्य उद्देश्य कला कौशल को दर्शकों या श्रोताओं के समक्ष रखना है। प्राचीन काल से ही ललित कलाओं के द्वारा व्यवसाय का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है।

नाट्य शास्त्र के समय से नाटकों की प्रस्तुति के लिए मंच तथा प्रेक्षागृह के निर्माण का उल्लेख मिलता है। इसके पूर्व वैदिक युग, पुराणकाल तथा महाकाव्य काल में इस प्रदर्शन का व्यवहार होता था।

कौटिल्य के अनुसार- तत्कालीन दुर्ग निवेश के अन्तर्गत विभिन्न कर्मचारियों के लिये समुचित आवास का प्रबन्ध था। गणिका, ताल वादक आदि वर्गों के लिए नगर में स्वतंत्र स्थान, नियत किया जाता था। कलाकारों में नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव इत्यादि वर्गों का समावेश होता था। इनमें से कतिपय को राज्य से जीविका लाभ होता था तथा कुछ अन्य कलाकार जनता के आश्रय से अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। इनको पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार के रूप में द्रव्य, धान्य आदि दिया जाता था।

नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव, चारण आदि ललित कला व्यवसायी वर्गों के लिए यह आवश्यक था कि वे अपना समस्त विवरण गणिकाध्यक्ष को प्रस्तुत करें। इस विवरण में निवास, कार्यक्रम स्थल कार्यक्रम से प्राप्त द्रव्य राशि का भविष्य में अपेक्षित कार्यक्रम तथा द्रव्योपलब्धि का सम्पूर्ण विवरण अपेक्षित था।

वर्तमान युग में आत्मिक विकास से जुड़ी इन मंचीय ललित कलाओं ने प्रयोगों के साथ-साथ रोजगार की संभावनाओं को भी जुटाया है। अगर बात शिक्षण से सम्बन्धित है तो विद्यालय व महाविद्यालय हमारे रोजगार के तो साधन हैं ही। साथ ही साधनारत कलाकारों को पूँजीपतियों व कंपनियों ने इलैक्ट्रॉनिक मीडिया व चैनलों के माध्यम से कला को जनमानस तक पहुँचाने में महती भूमिका का निर्वाह किया है तथा रोजगार की अपार संभावनायें भी विकसित की

हैं। कार्यक्रमों ने नामचीन कलाकारों की ज़रूरत एवं प्रतिष्ठा को भी बढ़ावा दिया है।

इस पूँजीवादी युग में जहाँ कला को प्रोत्साहन मिला है। वहीं इस कला की कलात्मकता को (SMS) को वोटिंग के तराजू में तोला जा रहा है, जो एक सोचनीय बिन्दु है। सरकार इस क्षेत्र में कलाकारों के लिए जो कार्य करना चाहती है शायद उनके प्रयास सही दिशा तक नहीं पहुँच पा रहे हैं या तो कलाकारों को सरकार से मात्र अलंकरण की आशा ही रह गयी है या राजनीति के चलते सरकार के दृश्य एवं प्रचार विभाग ने कुछ कलाकारों की कला को व्यापार का साधन समझकर बाजार में ला खड़ा कर दिया है आयोजन प्रबन्धन कंपनियों का इसमें खास हाथ रहता है।

इन सबके बावजूद वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ललित कलायें केवल मनोरंजन का साधन मात्र नहीं हैं बल्कि रोजगार के क्षेत्र में उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

(i) आधुनिक समय में ललित कलाओं को एक विषय के रूप, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालयों में विषय के रूप में मान्यता दी गई है।

(ii) ललित कलाओं का बच्चों के व्यक्तित्व विकास (सांस्कृतिक सम्बद्धता) में महत्वपूर्ण योगदान है।

(iii) व्यवसायिक क्षेत्र में ललित कलाओं के लिए नये अवसर उपलबध हैं।

ललित कलाओं को रोजगार की दृष्टि से देखने पर हमें कुछ बातों का ध्यान अवश्य रखना होगा- (i) कलाकार को शास्त्र एवं प्रयोग का समुचित ज्ञान हो। (ii) प्रतिदिन कला के क्षेत्र में होने वाली खोज एवं जानकारियों के प्रति जागरुक होना। (iii) कला के क्षेत्र में सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं से जुड़े रहना। कम खर्च में आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों की आवश्यकता को ध्यान में रखना। निवेश के लिए बैंकों द्वारा ऋण लेकर भी अन्य कार्यों को किया जा सकता है। कुल मिलाकर के रणनीति, योजना, निवेश एवं प्रबंधन के द्वारा ललित कलाओं के विकास हेतु कार्य किया जा सकता है।

बिहार में ख्याल गायन की परंपरा

सौरव कुमार नाहर

परपंरा का अर्थ है - पर के बाद पर, उत्तरवती पे उत्तरवती, आगे से आगे, आगे की ओर जाने वाली। अतः परंपरा कला, विज्ञान, दर्शन आदि की पीढ़ी दर पीढ़ी के अनुभवों का सरंक्षित अंग हैं जिसको समाज से अलग नहीं किया जा सकता।

परपंरा का संबंध संस्कृति के अविच्छिन स्वरूप से है। जिस प्रकार शताब्दियों के वैचारिक मंथन से संस्कृति का विकास होता है उसी प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी के संचित अनुभवों से पंरपरा बनता है। इस प्रकार युगों-युगों से चली आ रही विचार अथवा ज्ञान अथवा रीति-रिवाज का संपोषण ही परंपरा है। यह समाज और देश की संस्कृति का दर्पण होती है, जिसके माध्यम से देश, समाज तथा उसकी संस्कृति के बारे में जाना जा सकता है। परंपरा प्राचीनता से आधुनिकता को जोड़ते हुए सतत् नया आयाम सृजित करती है। अतः किसी भी कला की परंपरा उस कला के प्राचीनता से आधुनिकता के बीच क्रमशः पवित्रमय धारा को सेतु के माध्यम से जोड़ता है।

भारतीय संगीत में परंपरा का बहुत महत्व है। इसी के कारण भारतीय संगीत की धारा प्राचीन से वर्तमान काल तक निरंतर प्रवाहित है। वैदिक काल में जहाँ सामगायन की परंपरा के साथ-साथ 'गाथा' गायन की परंपरा का दिग्दर्शन होता है, वहीं बाद में वैदिक और लौकिक ज्ञान परंपरा के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हुआ। वैदिक और लौकिक गान के मूल से ''साम'' अथवा ''गाथा'' की पंरपरा के दर्शन होते हैं। हिन्दुस्तानी संगीत पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि इस संगीत की एक विशिष्ट परंपरा रही है, जो समय के धारा के प्रवाह में अपने आप को समयानुकूल बदलाव लाते हुए मूल से कहीं भी नहीं भटका है। प्राचीन संगीत में भाट, चातक, सूत आदि इस परंपरा के संवाहक रहे हैं। साथ ही साथ हमारे ऋषि मुनि भी अपनी सांगीतिक परंपरा को समृद्ध करते रहे हैं।

भारतीय इतिहास में बिहार का स्थान बड़ा ही गौरवपूर्ण तथा महिमाशाली रहा है। सच तो यह है कि बिहार के इतिहास को जाने बिना भारत के इतिहास के यथार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। बिहार में केवल महान साम्राज्यों की स्थापना ही नहीं बल्कि युग-युगांतर तक सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में देश-विदेशों में ख्याति प्राप्त थी।

प्राचीनकाल से ही बिहार में संगीत की समृद्ध पंरपरा रही है। यहाँ संगीत कला को समाज में ऊँचा स्थान रहा है तभी तो यहाँ के एक प्राचीन ऋषि याज्ञवल्क्य ने संगीत की दिव्यता को प्रदर्शित करते हुए लिखा हैं -

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजाति विशारदः
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्ग निगच्छति।।

वैदिककाल में सामगान का प्रचलन रहा है, वहीं बाद में छन्द-प्रबंध से होते हुए यह परंपरा ध्रुवपद, ख्याल, ठुमरी आदि के रूप में आज प्रचलन में है।

शास्त्रीय संगीत की सबसे प्रचलित शैली ख्याल गायन की है। ख्याल फारसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ भावना, कल्पना एवं ध्यान है। यह प्राचीन ''साधारणी गीति'' का आधुनिक रूप है इस गायकी की मधुरता, रंजकता एवं भावुकता स्वर,

असिस्टेंट प्रोफेसर, मंच तथा कला प्रदर्शन विभाग, बनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान-304022

शब्द और लय के समन्वय में निहित है। इस गायकी को प्रस्तुत करने से पूर्व राग का रागवाचक स्वरों का छोटा सा आलाप किया जाता है, तत्पश्चात बंदिश को गाकर एक-एक स्वर की बढ़त लेकर बंदिश में निहित शब्दों के भावों का प्रगटीकरण किया जाता है। बढ़त में कण, मींड, और गमकयुक्त आलाप, शब्दालाप आदि का कार्य किया जाता है। इसके बाद तान, बोलतान का प्रवाह शुरू हो जाता है। इसके द्वारा व्याकुल भावनाओं की अभिव्यक्ति की जाती है। इस गायकी में पहले विलंबित अर्थात् बड़ा ख्याल और तत्पश्चात् द्रुत अर्थात् छोटा ख्याल गाया जाता हैं। बड़ा ख्याल तथा छोटा ख्याल गायन के लिये क्रमशः विलंबित तथा द्रुत तीनताल, एकताल, तिलवांड़ा, झूमरा आदि तालों का प्रयोग किया जाता है तथा इस गायकी के पदों की भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा, अवधी, ग्वालियरी आदि होती है।

बिहार में इस गायकी का प्रचार ध्रुवपद अंग से कम रहा है। यह गायकी मुख्यतः पेशेवर गायिकाओं के द्वारा गायी जाती रही है। ये गायिका देश के बड़े-बड़े उस्ताद एवं गुरूओं से इस अंग की शिक्षा प्राप्त करती थी। कुछ उस्ताद अथवा गुरू खुद के भी प्रस्तुतीकरण देने के लिये यहाँ आते रहते थे। कुछ तो यहाँ आकर के बस ही गए थे। किराना के उस्ताद मौला बख्श और अज़ीम बख्श दरभंगा राज में रहे। ये दोनों बंदे अली खाँ बीनकार के शागिर्द तथा नन्हे खाँ ध्रुवपदिया और ख्यालिया के पुत्र थे। इन्हीं नन्हें खाँ के शिष्य अब्दुल करीम खाँ थे। ये दोनों भाई महाराजाधिराज लक्ष्मीश्वर सिंह और रामेश्वर सिंह के दरबारी गायक थे। इन दोनों भाइयों को महाराज ने मुजफ्फरपुर में बसाया था। अजीम, बख्श के सुपुत्र अबुल गनी खाँ और शफी खाँ माने हुए ख्यालिया थे। इनकी संतानों में अहमद खाँ, बलि खाँ और बाबू खाँ हुए जो अपने जमाने के माने हुए ख्यालिया थे। ये लोग हर साल मुजफ्फरपुर में किराना घराना सम्मेलन तथा साल में गनी खाँ स्मृति सम्मेलन करवाते थे।

उस्ताद अब्दुल करीम खाँ के भाई अब्दुल हक और अब्दुल मजीद दरभंगा राजदरबार में मुलाजिम रहे। अब्दुल हक की पुत्री रोशन आरा बेगम किराना गायकी की मिसाल थी। इनका जन्म पटना सिटी में हुआ। इनकी माँ चंदाबाई थी। इन्होंने संगीत की प्रारम्भिक शिक्षा अपनी माता तथा पटना सिटी के सारंगी नवाज़ लड्डन खाँ से प्राप्त किया था। बाद में ये मुम्बई अपने चाचा के यहाँ चली गई। स्वतंत्रता के समय ये पाकिस्तान में जाकर बस गयी। अतः स्पष्ट रूप से यहाँ किराना घराना के ख्याल गायको का जमघट था।

बनैलीराज के कुमार श्यामानंद सिंह इस गायन शैली के अनूठे कलाकार रहे हैं। इनके यहाँ देशभर के ख्यालियों का जमघट लगा रहता था। कुमार श्यामानंद सिंह ने संगीत की शिक्षा भीष्मदेव चटर्जी, बाचू खाँ (सारंगी वादक) से प्राप्त की। खुर्जावाले अल्ताफ हुसैन खाँ, मुबारक अली खाँ, भोलानाथ भट्ट और दिल्ली घराने के मुजफ्फर खाँ से भी मार्गदर्शन पाया था।

देश के कई संगीत विभूतियों का जन्म स्थान बिहार में हुआ है जिनमें प्रमुख भोलानाथ भट्ट इनके शिष्य रामाश्रय झा 'रामरंग'। मुँगेरवासी चंद्रशेखर खाँ उत्तम ख्यालिया थे। ये किराना घराना के अब्दुल गनी खाँ के शिष्य थे। नज्जू खाँ सुरीले और गुणी ख्याल गायक थे जो पटना में रहते थे। ज़ाकिर हुसैन (बेतिया) मौजूद हुसैन खाँ, अखौरी नागेन्द्र नारायण सिन्ध उर्फ 'नंदनजी' आदि की ख्याति अच्छे ख्याल गायकों में होती थी। पंचगछिया के राय बहादुर लक्ष्मीनारायण सिंह के खवास तथा शिष्य मांगन अपने समय के उत्तम ख्याल गायक थे। माँगन के शिष्यों में बटुक, उपेन्द्र प्रसाद यादव, बालगोविन्द झा आदि प्रसिद्ध ख्याल गायक हुए। रायबहादुर के ही शिष्य रघु झा अपने समय में पर्याप्त यश अर्जित किया।

दरभंगा जिला का प्राचीन पनिचोभ ग्राम ख्याल गायकों के लिये मशहूर रहा जिसका सूत्रपात अवध झा से हुआ। इस घराने के विलक्षण गायक अवध झा के पुत्र रामचन्द्र झा हुए जो कि दरभंगा महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह के समकालीन थे। इन्होंने किराना के उस्ताद मौलाबख्श तथा अजीमबख्श से भी ख्याल गायकी का प्रशिक्षण प्राप्त किया। दुर्गादत्त झा, दिनेश्वर झा आदि इस घराने के स्तंभ रहे हैं।

मधुबनी घराना भी ख्याल के लिये प्रसिद्ध रहा है जिसका सूत्रपात मनसा मिश्र तथा डीही मिश्र से

हुआ। इस घराना के सबसे विशिष्ट गायक आद्या मिश्र हुए। इसी घराने के रामजी मिश्र विद्वान एक सुरीले गायक थे।

उपर्युक्त घरानों तथा परंपरा के अलावे भागलपुर संगीत परंपरा भी ख्याल गायन के क्षेत्र में बिहार को सुदृढ़ करता रहा है। यह परंपरा 200 वर्षों से भी अधिक समय से ख्याल को पोषित करते आ रहा है। इस परंपरा के अधिष्ठाता पंडित सुरजन प्रसाद मिश्र और अयोध्या प्रसाद मिश्र थे। ये दोनों कलाकार अयोध्या के धमरूआ अथवा जौनपुर के बसालतगंज से आए। इन्हें बनैली स्टेट के श्यामानंद सिंह के पूर्वजों ने दरबारी गायक के रूप में बुलवाया तथा बरारीघाट (भागलपुर) में 150 बीघा ज़मीन दरबार की तरफ से मुहैया कराई गई।

अयोध्या प्रसाद मिश्र के क्रमशः चार पुत्र पंडित रघुनाथ मिश्र, पं. बैद्यनाथ मिश्र, पं. जदुनाथ मिश्र तथा पं. पशुपति नाथ मिश्र हुए। ये चारों ख्याल गायन में निपुण थे। पं. बैद्यनाथ मिश्र के दो पुत्र गणेश मिश्र एवं अन्ना मिश्र गायन तथा तबला के ज्ञाता थे। भागलपुर के बड़े गायको में पं. रघुनाथ मिश्र का नाम आता है जो कि झंडे नशीन कलाकार माने जाते थे। इनके चार पुत्र अमरनाथ, अजरनाथ, घुघुरनाथ तथा दूधनाथ मिश्रा थे। ये चारों भाई ख्याल गायन कला में सिद्ध एवं निपुण थे।

इसी परंपरा के महत्वपूर्ण ख्याल गायक तथा 'दासपिया' उपनाम के प्रणेता तथा बंदिशों के रचनाकार पंडित सुरजन प्रसाद मिश्र (दासपिया) हुए। इनके पुत्र 'बद्री सेवक मिश्र' (दासपिया) थे जो कि ख्याल गायक के अद्‌भुत विद्वान थे। इनके चार पुत्र क्रमशः पं. शारदा मिश्र, पं. केदारनाथ मिश्र, पं. प्रहलाद प्रसाद मिश्र तथा पं. रामनरेश मिश्र थे। बड़े भाई शारदा मिश्र की देखरेख में तीनों भाइयों की शिक्षा दीक्षा हुई तथा बाकी भाई भी ख्याल गायन में सिद्ध हुए चूँकि बड़े भाई ने संगीत तथा ख्याल गायन सिखलाया अतः सभी भाइयों ने बड़े भाई के नाम पर शारदा संगीत महाविद्यालय की स्थापना की जो आज भी कार्यरत है तथा बिहार सरकार द्वारा वित्त पोषित है।

भागलपुर परंपरा के अगले स्तंभ ख्याल गायक पं. प्रहलाद प्रसाद मिश्र (दासपिया) हुए। इनके क्रमशः तीन पुत्र पं. संगीत कुमार नाहर (दासपिया), आकाशवाणी पटना में संगीत रचनाकार के पद पर प्रतिष्ठित थे तथा देश के जाने-माने ख्याल गायकों ने इनकी प्रतिष्ठा है। द्वितीय पुत्र प्रो. साहित्य कुमार नाहर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में सितार के आचार्य पद पर कार्यरत हैं तथा ख्याल का ज्ञान रखते है। तृतीय पुत्र डॉ. संतोष कुमार नाहर आकाशवाणी दिल्ली में कार्यक्रम प्रमुख है।

इस परंपरा के कलाकार अपने नाम के आगे 'नाहर' का उपनाम लगाते हैं, जो कि दरभंगा महाराज के द्वारा प्रदान की गई थी अतः इस परंपरा को मिश्र 'नाहर' घराने के रूप में भी जाना जाता है। वर्तमान में पं. संगीत कुमार नाहर के दो पुत्र गौरव नाहर (वायलिन) एवं डॉ. सौरव कुमार नाहर (दासपिया) ख्याल गायन तथा वादन को पोषित तथा पल्लवित करने में अपना पूरा सहयोग दे रहे हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मदन डॉक्टर पन्नालाल, संगीतशास्त्र विज्ञान
2. श्यामकृष्ण-बिहार के घनगई घराने की संगीत परंपरा-छायानट अप्रैल- जून-1992-पृष्ठ-52,53,54
3. सिंह गजेन्द्र नारायण, बिहार की संगीत परंपरा (पृष्ठ-71, 76, 78, 79, 80)
4. मिश्र शंभुनाथ, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की घराना परंपरा।

प्रागैतिहासिक कालीन समय में चतुर्विध वाद्य परिकल्पना

प्रो. रश्मि श्रीवास्तव

''ताल राग का मूल है, वाद्य ताल का अंग है।

दोनों संयोग जब होते हैं, उठत अनेक तरंग।''

ठीक ही तो कहा गया है कि संगीत के तीनों अंगों गायन, वादन व नृत्य के मूल में वाद्य ही निहित है। वाद्यों के प्रयोग से मन को आनन्दित करने वाली जो तरंगे उठती हैं, वह संगीत के सौन्दर्य को द्विगुणित कर उसको जीवन्तता प्रदान करती है। वाद्य, संगीत की एक महत्त्वपूर्ण विद्या है। "स्वर ताल अभिव्यक्त करने वाले उपकरण भारतीय संगीत में वाद्य कहलाते हैं"[1]। "वाद्य शब्द संस्कृत भाषा नपुलिंग में प्रेरणार्थक 'वद' धातु से यत् प्रत्यय लगाकर बना है"[2]। "मानक हिन्दी कोश के अनुसार वाद्य शब्द पु में (सं ल्ल वद् (कहना) ञ णिच् ञ यत्) से बना है। जिसका अर्थ (1) बाजा बजाना (2) बाजा है"[3]।

डॉ. विश्वनाथ शुक्ल के अनुसार "वाद्य शब्द का शाब्दिक अर्थ है- वादनीय या बजाने योग्य यन्त्र विशेष"[4]।

संगीत में वाद्यों का अपना अलग ही महत्त्व है। इसके बिना गायन, वादन व नर्तन का सौन्दर्य अधखिली कली के सदृश्य प्रतीत होता है। फलतः संगीत को आकर्षक व मधुर बनाने के लिए भारतीय संगीत में नानाविध वाद्यों का आविष्कार कर उन्हें तत्, घन, सुषिर व अवनद्ध के रूप में प्रयोग में लाया गया। इन चतुर्विध वाद्यों के सर्वप्रथम सूत्र हमें विष्णुधर्मोत्तर मार्कण्डेय व हरिवंश पुराण, आदि में वलणत श्लोकों से प्राप्त होते है। यथा-

''तत् चाप्यवनद्धं च घनं सुषिरमित्यपि
यथास्वं लक्षणैर्युक्तमातोद्यं स्याच्चतुलवधम्।''[5]

कालान्तर में और अधिक सुस्पष्ट व वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ में निम्नवत् वर्गीकरण दिया :-

ततं चैवावनद्धं घनं सुषिर मेव च।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्।''[6]

इस प्रकार उपरोक्त विवरणों के आलोक में यह माना जाता है कि भारतीय संगीत में प्राचीन काल से ही चतुर्विध वाद्यों का प्रयोग किया जाता रहा है, जिनके प्रमाण हमें उक्त ग्रन्थों से प्राप्त होते हैं।

अब प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या इन प्रमाणों से पूर्व चतुर्विध वाद्यों का कोई अस्तित्त्व नहीं था? या क्या इनसे पूर्व वाद्यों के ये रूप प्रचलित नहीं थे? इन प्रश्नों के हल हेतु यदि व्यापक व सूक्ष्म दृष्टि अपनाये तो यह स्वतः ही ज्ञात हो जाता है कि प्रागैतिहासिक काल से ही इन वाद्यों का अस्तित्त्व था क्योंकि विद्वानों का ऐसा मानना है कि वाद्यों की विकास यात्रा मानव सभ्यता की विकास यात्रा का ही एक अभिन्न अंग है। जब से मानव ने बोलना सीखा तभी से उसे गाना भी आ गया होगा, वह गाना चाहे किसी भी रूप में गाया जाता रहा होगा, उसके साथ संगति के लिए तत्कालीन समय में प्राप्त सामग्री से उसने वाद्यों का विकास भी किया होगा।

सम्पूर्ण सृष्टि नाद से अनुप्राणित है एवं मानव इस सृष्टि का ही एक अंश है। फलतः यह नादात्मक चेतना उसमें प्राकृतिक रूप से विद्यमान रही। फलतः प्रकृति में व्याप्त विभिन्न ध्वनियाँ जैसे नदियों का कल-कल व छल-छल निनाद, पक्षियों का कलरव,

संगीत विभाग,कला संकाय, दयालबाग ऐजूकेशनल, इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा

हवाओं की सरसराहट व पत्थरों पर पड़ती झरनों की मधुर झंकार ने मानव को बरबस ही अपनी ओर आकृष्ट किया होगा और इन्हीं मधुर ध्वनियों से मानव को भिन्न-भिन्न वाद्यों की प्रेरणा मिली होगी। प्रारम्भ में प्राकृतिक रूप से उपलब्ध वस्तुओं जैसे बाँस, पत्थर के टुकड़े, सींग व हड्डियों आदि के द्वारा ध्वनि निर्वाह किया गया होगा, धीरे-धीरे वाद्यों में अन्य सामग्रियों का प्रयोग किया जाना संभव हुआ होगा।

आदि मानव ने अपने जीवन के दुरुह क्षणों में भी मानसिक विश्रांति एवं हर्षोल्लास के लिए जिन विभिन्न प्रकार के अनगढ़ वाद्यों का वादन किया उनके चित्र उन्होंने अपने आवास-स्थानों यानि गुफाओं की दीवारों पर अंकित कर दिये। जिन्हें आज हम शैल चित्र या भित्ति चित्रों के नाम से जानते हैं। ये शैल या भित्ति चित्र जहाँ उस काल के आदि मानवों के आमोद प्रमोद के साधन थे वहीं वे चित्र उस काल की संस्कृति, सभ्यता व सांगीतिक वाद्यों को जानने के सशक्त माध्यम भी माने जाते हैं। फलतः उस काल में प्रयुक्त वाद्यों की जानकारी विभिन्न शैल खण्डों में अंकित वाद्यों के रेखा चित्रों से प्राप्त की जा सकती है। अस्तु यहाँ उदाहरण स्वरूप कतिपय शैल चित्रों से प्राप्त सांगीतिक वाद्यों का विवरण निम्नवत् वर्णित है:-

(1) चित्र ''क'' - कंडाकोट पहाड़ (मिर्जापुर) से प्राप्त शिलाश्रय में अंकित चार व्यक्तियों में से मध्य में दो के हाथ में चिमटे जैसा कोई आदिम वाद्य अंकित है व पहली व चौथी मानवाकृति के हाथ में नगाड़े जैसा कोई वाद्य अंकित है जो कि चित्र संख्या 'क' से स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है :-

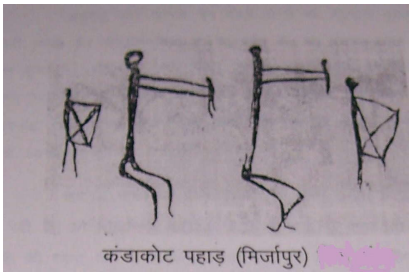

चित्र क

उक्त रेखा चित्र के माध्यम से 'घन' व अवनद्ध वर्ग के वाद्यों के संकेत प्राप्त होते हैं।

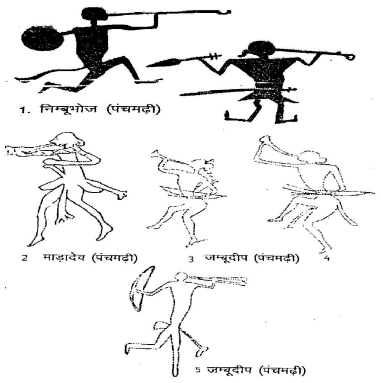

चित्र ख

(2) चित्र 'ख' में 1, 2, 3, 4 व 5 रेखाकृतियाँ दर्शायी गई हैं जो कि निम्बूभोज, माड़ादेव व जम्बूदीप (पंचमढ़ी) की शिलाश्रयों में मुख वाद्य-वादनरत वादकों से सम्बन्धित प्रतीत होती हैं। यथाः-

ये वाद्य श्रृंग, अलगोज़े व तुरही सदृश्य प्रतीत होते हैं जो कि सुषिर वर्ग के वाद्यों का संकेत देते हैं।

(3) चित्र "ग" - इस काल के मानव तन्तु वाद्यों का प्रयोग भी करता था जिसका स्पष्ट संकेत निम्बुभोज (पंचमढ़ी) आदि में निर्मित शैल चित्रों से स्पष्ट दिग्दर्शित होता है जो कि चित्र संख्या नं. 1 व 2 से स्पष्ट दिग्दर्शित हो रहे हैं।

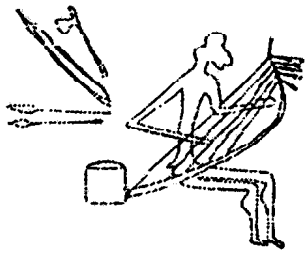

चित्र ग 1 (पंचमढी)

चित्र ग 1 के अनुसार पाँच तन्तु वाले अर्ध चन्द्राकार वाद्य जैसा दिखाई दे रहा है जो कि वर्तमान पाश्चात्य हार्प वाद्य से मिलता-जुलता प्रतीत होता है।

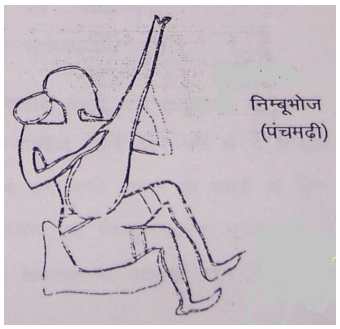

चित्र ग 2

चित्र ग 2 में वर्णित वाद्य वर्तमान सरोद सदृश्य आकृति वाला प्रतीत होता है जो संभवतया उस काल में इकतारा जैसा वाद्य रहा हो।

(4) चित्र "घ" - अवनद्ध वाद्य जो कि भारतीय संगीत के महत्वपूर्ण वाद्यों के रूप में माने जाते हैं; तत्कालीन समय में आदि मानव द्वारा इनका वादन भी किया जाता था। जिनके साक्ष्य इमलीखोह, माड़ादेव व बी. डेम केव में अंकित रेखाचित्रों से स्पष्ट दिग्दर्शित होते हैं जो चित्र घ में संख्या नं. 1, 2 तथा 3 से स्पष्ट है :-

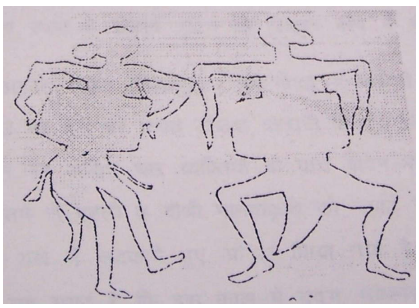

चित्र घ 1 इमलीखोह

चत्र घ 1 इमलीखोह (पंचमढ़ी) से प्राप्त रेखाचित्र में दो मृदंग वादक मृदंग के वादन की मुद्रा में अंकित हैं तो वहीं चित्र घ 2 व घ 3 बी. डैम केव व माड़ादेव (पंचमढ़ी) नामक गुफा से प्राप्त रेखा चित्रों में एक-एक मृदंग वादक की नृत्यमयी मुद्रा अंकित है। जिसमें से माड़ादेव के शिलाश्रय से प्राप्त चित्रानुसार

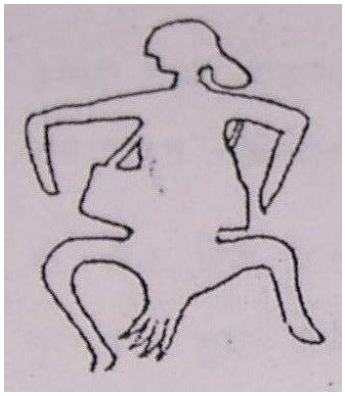

चित्र घ 2 बी. डेम केव

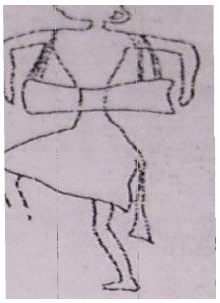

चित्र घ 3 माड़ादेव

यह ढोल का कोई प्रकार रहा हो जो कि आलिंग्यक वाद्य से मिलता जुलता कहा जा सकता है।

उपरोक्त सभी उद्धरणों से यह सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि कालान्तर में जो वाद्य विकसित हुए या उनके असंख्य प्रकारों को देखते हुए जो वाद्य-वर्गीकरण वाद्यों की बनावट, प्रयुक्त सामग्री व आकार-प्रकार को देखते हुए व्यवहार में लाया गया उसके सूत्र प्रागैतिहासिक काल में भिन्न रूप में अपने प्रारंभिक अवस्था में निर्मित हो चुके थे जैसा कि उपर्युक्त वर्णित शैल चित्रों के उद्धरण से ज्ञातव्य है। सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ अनेक शास्त्रों का भी विकास होता चला गया। फलस्वरूप संगीत में भी शास्त्रोक्त रीति से

वाद्यों का निर्माण व वादन संभव हुआ व वाद्य शनैः-शनै परिष्कृत व सुव्यवस्थित होते-होते प्रचलित स्वरूप को प्राप्त कर पाये। यह कहना अनुचित ना होगा कि उनके अनेकानेक प्रकारों के विकास ने ही वाद्य वर्गीकरण की व्यवस्थित रूप रेखा प्रस्तुत करने में मुख्य भूमिका का निर्वाह किया। यह अलग बिन्दु है कि चारों ही प्रकार के वाद्य प्रागैतिहासिक काल में ही प्रयोग में लाये जाने प्रारम्भ हो चुके थे और उनके व्यवस्थित स्वरूप की व्याख्या आचार्य भरत मुनि ने 3री से 5वीं शताब्दी के मध्य नाट्यशास्त्र का प्रणयन कर प्रस्तुत की।

सन्दर्भ सूची

1 शुक्ला (डॉ.) योगमाया, तबले का उद्गम विकास और वादन शैलियाँ, पृष्ठ सं. 22

2 शब्द कल्पद्रुम, वॉल्यूम-प्ट पृष्ठ सं. 332

3 वर्मा रामचन्द्र (सम्पादक), मानक हिन्दी कोश - खण्ड पाँचवाँ षष्ठ सं. 34

4 जायसवाल (डॉ.) राधेश्याम, भारतीय सुषिर वाद्यों का इतिहास, षष्ठ सं. 3

5 शर्मा जिनसेन, हरिवंश पुराण, एकोनविंश सर्ग, आचार्य विरचित प्रकाशक - ज्ञानपीठ नई दिल्ली पृष्ठ 287, मन्त्र 142, संस्करण छठा।

6 नाट्यशास्त्र 28वाँ अध्याय (स्वराध्याय) संस्कृत भाष्य तथा हिन्दी टीका सहित।

सुगम संगीत द्वारा सामाजिक सद्भावना का विकास

डॉ. अंजलि नारायण

"गूँजे गगन में, महके पवन में,
हर एक मन में, सद्भावना।।
मौसम की बाँहे, दिशा और राहे,
सब हम से चाहे, सद्भावना।।"

सद्भावना अर्थात् नेकनीयत, सदाशयता इत्यादि। शाब्दिक अर्थ में देखे तो सद्भावना से तात्पर्य शुभ या मंगल की भावना, किसी के हित की कामना, सहानुभूति, मित्रता, प्रेम, वात्सल्य या कपट रहित विचार से है।[1]

यह एक आदर्श, सम्बन्धी शब्द है जो दूसरों को धोखा न देने की इच्छा या ईमानदारी की भावना का द्योतक है। साथ ही इस शब्द में निष्ठा, विश्वास व निष्पक्षता का भाव भी निहित है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अकेले जीवन नहीं व्यतीत कर सकता है। व्यक्ति से परिवार का विकास होता है, परिवार से समुदाय बनता है व विभिन्न समुदायों के साथ-साथ निवास करने से ही समाज का निर्माण होता है। यह निश्चित ही है कि इस समाज में भिन्न-भिन्न स्वभाव, रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, भाषा-बोली के लोग रहते हैं किन्तु इस विविधता के पश्चात् भी उनमें आपसी प्रेम, भाईचारा, मित्रता और एक-दूसरे के दुःख-सुख में सहभागी होने की भावना होती है। आपसी प्रेम, सौहार्द, भाईचारा, मित्रता व दुःख-सुख में सहभागी होने की भावना को ही 'सामाजिक सद्भाव' के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिससे एक-दूसरे के प्रति प्रेम, सहानुभूति, श्रद्धा, करुणा व दया का भाव मन में पैदा होता है और हमारे विचारों में उदारता आती है।

परन्तु वर्तमान युग में ईमानदारी, निष्पक्षता, निष्ठा, प्रतिबद्धता एवं सदाशयता के अभाव के कारण सर्वत्र अराजकता व्याप्त है। आज अपनी समृद्धि व शक्ति के शिखर पर पहुँच कर भी हम असुरक्षा के सबसे गहरे क्षणों का अनुभव कर रहे हैं। इसका प्रमुख कारण है- 'सद्भावना का अभाव।

देश की युवा पीढ़ी में अशोभन आचरण, असहिष्णुता, स्वार्थी-प्रवृत्ति, पक्षपातपूर्ण व्यवहार, घृणा-ईर्ष्या व बैर की भावना देखने को मिल रही है, जिसके कारण समाज में रोषपूर्ण वातावरण विकसित हो रहा है। अतः विचार करने की आवश्यकता है कि मानव-समाज में व्याप्त इस संकटपूर्ण स्थिति को दूर करने हेतु कौन-कौन से कारक सहायक सिद्ध हो सकते है जिसके माध्यम से मानव समाज में सद्भावना का संचार किया जा सके।

इस दिशा में यदि व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हुए देखे तो संगीत कला सार्थक भूमिका के निर्वाह में सहायक सिद्ध हो सकती है क्योंकि मानव जीवन सदा संगीत से अनुप्राणित रहा है।

संगीत कला न केवल मनोरंजन मात्र में सहायक है अपितु यह मानव को मानव बनाने में भी समर्थ है। संगीत मानव जीवन में निहित नाना प्रकार के उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद तथा राग-द्वेष से युक्त द्वन्दात्मक भावों की जटिलताओं को सुलझाकर समाज को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित बनाने में विशेष योगदान देता है। इसीलिए मानव जीवन के उचित विकास के लिए संगीत का विशेष महत्त्व है।

सहायक प्राध्यापक, मणिपाल वि.वि., जयपुर, राजस्थान

इस सम्बन्ध में उस्ताद अमजद अली जी के विचार विशेष रूप से उद्धत करने योग्य है कि "संगीत ही आदमी को सही इंसान बनाता है, उसे संवेदनशील बना सकता है, दूसरों के लिए दिल में मोहब्बत पैदा कर सकता है।"[2]

भारतीय संगीत जिसके मुख्य भेद शास्त्रीय संगीत व सुगम संगीत के रूप से जाने जाते है। शास्त्रीय संगीत यानि वह संगीत जो शास्त्राधारित है व सुगम संगीत यानि वह सरल, सुबोध सुगम्य संगीत जो जनसाधारण को सहज में ही प्रभावित कर लेता है।

संगीत में बहुत ही असरदायी शक्ति है। संगीत एक मोहक व आकर्षक कला है। जिसकी सम्मोहिनी में वह शक्ति छिपी है जिसके माध्यम से किसी भी व्यक्ति को, जो भी अभीष्ट हो, समझाया जा सकता है और उस पर सशक्त गीत की पंक्तियाँ मिल जाये तो कहना ही क्या ?

सुगम संगीत में सरल धुनों में बद्ध सशक्त शब्द वो असरदायी शक्ति का कार्य करते है जो मानव मन में उतरकर हृदयगत भावों, विचारों पर सीधा असर डालते हैं और गीत के भावों के अनुकूल सोचने की शक्ति पैदा कर देते हैं। सुगम संगीत की कोई भी विधा हो चाहे गीत, गज़ल, भजन अथवा फिल्म संगीत ही क्यों न हो; प्रत्येक के शब्दों में सद्भावना जिन्हें हम परोपकार, श्रद्धा, करुणा, प्रेम, सौहार्द, निष्छलता, ईमानदारी आदि के रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं, रचे-बसे हुये हैं।

अस्तु सुगम संगीत के माध्यम से सामाजिक सद्भावना के विकास हेतु जिन भावों, विचारों का विकास किया जा सकता है वे निम्नवत् है-

1. सर्वजन हिताय की भावना का विकास

प्रसिद्ध कवि नीरज जी की पंक्तियाँ -

"जलाओं दिये पर रहे ध्यान इतना,
अँधेरा धरा पर कहीं रह ना जाये।
सृजन है अधूरा अगर विश्व भर में,
कहीं भी किसी द्वार पर है उदासी।"[3]

इस प्रकार के विचारों से युक्त गीतों को सुनकर स्वतः ही सभी के सुख की कामना का भाव जाग्रत होना स्वाभाविक ही है।

2 प्रेम की भावना का विकास

कोई भी समुदाय बिना प्रेम व एकता के एक साथ नहीं रह सकता है। प्रेम ही मानव जीवन का आधार है, प्रेम ही मानव को मानव बनाता है तभी तो कहा गया है कि,

"प्रेम ही तो तीर्थ है, प्रेम धर्म है।
प्रेम ही है अर्चना, प्रेम कर्म है।"[4]

3 स्वशासन की भावना का विकास

आज समाज में जिस अराजकता का वातावरण है उसके मूल में दूसरों पर अधिकार, शासन सत्ता की भावना ही है, यदि हम स्वयं पर अधिकार व नियन्त्रण कर लें तो इस अराजकता पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस भावना के विकास हेतु हिन्दी फिल्म 'गुड्डी' में 'गुलजार साहब' द्वारा रचित प्रार्थना उद्धत करने योग्य है-

"हम को मन की शक्ति देना, मन विजय करें।
दूसरों की जय से पहले, खुद को जय करें।।"

4 वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना का विकास

वर्तमान समय में समाज में साम्प्रदायिक भेद-भाव का जो वातावरण व्याप्त है उसमें हर समुदाय दूसरे समुदाय के व्यक्ति से घृणा व बैर का भाव मन में लिये जी रहा है, इस भावना को दूर तभी किया जा सकता है जब समाज में वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना का विकास हो। इस दिशा में भी सुगम संगीत अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम है क्योंकि इस भावना से ओत-प्रोत अनेक प्रेरक गीत हैं जो मानव मन पर सीधा असर डालते है यथा-

"हिन्द देश के निवासी, सभी जन एक हैं।
रंग रूप वेश-भूषा चाहे अनेक है।"[5]
"हम बंगाली, हम पंजाबी, गुजराती, मद्रासी हैं।
लेकिन हम इन सबसे पहले भारतवासी है।"[6]

5 भ्रातृ-भावना का विकास

सुगम संगीत के माध्यम से मनुष्य, मनुष्य के बीच आपसी भाई-चारे की भावना का विकास भी किया

जा सकता है जिसे निम्नांकित पंक्तियों में बहुत ही सुन्दर ढंग से पिरोया गया है–

"ओ दुनियाँ के मालिक जाग,
गाते हैं हम तेरा राग।
तू आपस की दूरी मिटा दे,
मिल-जुलकर रहना सिखला दे।।
ऐसी प्रेम की वंशी बजा दे,
इक-इक दिल पर जादू चला दे।
चमके जिससे हिन्द का भाग,
ओ दुनियाँ के मालिक जाग।।"

6 सन्मति व नेक नीयत का विकास

"अल्लाह तेरो नाम, ईश्वर तेरो नाम।
सबको सन्मति दे भगवान।।"

लेखक 'साहिर लुधियानवी' द्वारा रचित यह भक्ति प्रधान गीत फिल्म 'हम दोनों' से उद्धत है। जिसके सार-गर्भित शब्दों को सुनते ही प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता है। इसी भाँति 'अभिलाष जी' द्वारा रचित अंकुश फिल्म की 'प्रार्थना'

"इतनी शक्ति हमें देना दाता,
मन का विश्वास कमज़ोर होना,
हम चले नेक रास्ते पे हमसे,
भूलकर भी कोई भूल होना।।"

नेकी के मार्ग पर प्रेरित करने योग्य है जिसके शब्द मानव को नेक नीयत व सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं।

7 छल-प्रपंच से दूर परोपकारी प्रवृत्ति का विकास

सद्भावना तभी सार्थक सिद्ध हो सकती है जब समाज में छल-कपट की भावना दूर हो व साफ नीयत व पाक दिल से हर इन्सान एक-दूसरे के सुख-दुःख में सम्मिलित हो जैसा कि निम्नलिखित देशभक्ति गीत से भी स्पष्ट होता है-

"वह शक्ति हमें दो दया निधे,
कर्त्तव्य मार्ग पर डट जाएँ।
पर सेवा, पर उपकार में हम,
जग-जीवन सफल बना जाएँ।
छल-दम्भ, द्वेष-पाखण्ड-झूठ-अन्याय से
निश दिन दूर रहे।
जिस देश जाति में जन्म लिया,
बलिदान उसी पर हो जाए।"

इस प्रकार सुगम संगीत वह सशक्त माध्यम है जिसके सरल सुगम व आह्लादकारी धुनों में बँधे गीत मानव मन को बरबस ही अपने आकर्षण में बाँध लेते है व मन स्वतः ही उन्हीं भावों में सराबोर हो तरल हो उठता है। कहना अतिशयोक्ति न होगी कि सुगम संगीत के माध्यम से मानव मन में जो तरलता आती है, सुकोमल भावना विकसित होती है वह कठोर से कठोर मन को भी मोम की भाँति पिघला देने में सक्षम है और इसकी इसी असरदायी शक्ति के माध्यम से सामाजिक सद्भावना का विकास सम्भव है।

संदर्भ सूची

1. वर्मा आचार्य रामचन्द्र (मूल सम्पादक,) लोक भारती वृहत् प्रामाणिक हिन्दी कोश, षृष्ठ सं. 941
2. Neelima Srivastava, Music Education today, Callenges & innovative Practices, Page No. 70
3. दास गोपाल 'नीरज', https://www.youtube.com/watch?v=3mNwH9Enf34
4. गर्ग डॉ. लक्ष्मी नारायण (सम्पादक), भजन संध्या, (संगीत कार्यालय, हाथरस) षृष्ठ सं. 70
5. मौद्गल्य विनय चन्द्र https://www.youtube.com/watch?v=5mE9uJZQgCo
6. चेतना के स्वर, (राष्ट्रीय समूह गान प्रतियोगिता पुस्तक) भारत विकास परिषद् षृष्ठ सं. 25
7. गर्ग डॉ. लक्ष्मी नारायण (सम्पादक), वन्दना संगीत, (संगीत कार्यालय, हाथरस) षृष्ठ सं. 28

बिहार के तन्त्रीवादकों की संगीत परम्परा

अमरेन्द्र कुमार झा

भारतीय परम्परा के अनुसार चौंसठ प्रकार की कलाएं मानी गई हैं- जिनमें (1) स्थापत्यकला (Architecture), (2) तक्षणकला (Sculpture), (3) चित्रकला (Drawing & Painting), (4) काव्यकला (Poetry), तथा (5) संगीत नृत्य नाट्य (Music Dance Drama) आदि इन पाँच को "ललितकला" (Fine Arts) कहा गया है।[1] इन ललित कलाओं में संगीतकला को ही सर्वोत्तम माना गया है। संगीत मूलतः गायन, वादन एवं नृत्य का समन्वित रूप है। संगीत में केवल भाव ही भाव रहता है। अतः इसे ही पराविद्या कहा गया है।[2] संगीत में मुख्य विधा गायन ही होता है। अतः गायन के साथ वादन एवं वाद्य यंत्रों का प्रयोग लगभग अनिवार्य हो जाता है। वाद्य यंत्रों के प्रयोग से गायन का कार्यक्रम काफी रंजक व प्रभावशाली हो जाता है। वाद्ययंत्र न केवल संगत हेतु बल्कि एकल वादन व वृन्द वादन हेतु भी प्रयुक्त होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गायन के साथ वादन का मणिकांचन संयोग तो है ही इसके अलावा वादन एक स्वतंत्र संगीत विधा के रूप में भी सर्व प्रचलित है। बिहार में प्राचीन काल से ही तन्त्री वाद्यों का प्रचलन रहा है। बौद्ध, जैन ग्रंथों के अतिरिक्त स्मृति ग्रंथों में भी तन्त्री वाद्यों का उल्लेख मिलता है। उस काल में बिहार में स्थित नालन्दा, पाटलिपुत्र, विक्रमशिला भारतीय विद्या एवं संगीत के प्रमुख केन्द्र थे। प्राचीन कालीन तन्त्रीवाद्यों में वाण, गर्गर, कर्करी वीणा, गोधा वीणा, आघाटी वीणा, काण्ड वीणा, घाटलिका, अलाबु वीणा, कच्छपी, कपिशीर्ष्णी तथा क्षोणी वीणा आदि का उल्लेख मिलता है।[3] इसी प्रकार बौद्ध साहित्य तथा जैन ग्रंथों में मुख्य रूप से परिवादिनी, विपंची, वल्लकी, महती, नकुली, कच्छपी तथा तुम्ब वीणा आदि तन्त्रीवाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] जातक साहित्य में सप्ततन्त्री वीणा का उल्लेख मिलता है।[5] इसी प्रकार अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर किसी राजन्य को सप्ततार वादक एवं गायक के रूप में उपस्थित होने का भी उल्लेख मिलता है।[6] उस काल में 'वीणा' तन्तु वाद्यों के लिये सामान्य संज्ञा थी। भारतीय संगीत के विकास में बिहार के तन्त्रीवादकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। बिहार में मुख्यतः सितार, सरोद, सारंगी, इसराज तथा वायलिन इत्यादि तन्त्री वादकों की परम्परा रही है, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है-

1. सितारवादक :- आधुनिक काल के लिये सितार सबसे लोकप्रिय वाद्य है। राधागोविन्द संगीतसार में लिखा है कि "निबद्ध तम्बूर को लोक में सितार कहते है"।[7] बिहार में तन्त्री वादकों में सितार वादकों का स्थान प्रमुख रहा है। सितार वादकों में पं. सुदीन पाठक अपने जमाने के अद्वितीय सितार वादक के साथ एक धुरंधर पखावज वादक तथा संस्कृत के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके पिता पं. विश्वनाथ पाठक एक कुशल ध्रुपद गायक, सितार वादक तथा मृदंगाचार्य भी थे। पं. सुदीन पाठक के बारे में प्रसिद्ध पखावज वादक पं. रामाशीष पाठक बताते थे कि ''ये अजीबों-गरीब सितारवादक थे।

ये रात में चुपचाप एकांत कमरे में बंद होकर सितार बजाते थे, और सुबह होते-होते सितार के सारे पर्दे काटकर यंत्र रख देते थे, तथा रात्रि में सितार बजाने के समय पुनः सभी पर्दों को बाँधते

बी 2/195 बी, भदैनी, वाराणसी- 221001

थे''।[8] उनके एक मात्रशिष्य पं. रामेश्वर पाठक ही थे जिन्हें अपने सितार वादन में महारत हासिल था। पं. रविशंकर जी स्वयं अपनी पुस्तक 'राग-अनुराग' में पं. रामेश्वर पाठक की चर्चा इस प्रकार किया है- ''आर तार चे ओ जाके आरो बेसी परिणत मने होय छिलो तिनि रामेश्वर पाठक। आमार जीवने आमि जतो सेतार सुनेछि तार मध्ये ठिक ऐ रकम सेतार आर सुनेछि कि न संदेह। एकटा अद्‌भुत समन्वय छिलो ओर बाजनाय। जेमन मिड़ेर काज, गमकेर काज तेमन तैरी ओबोलेर काज। ठिक से रकम ई झालार प्रकाश। नाना घरनेर झाला। बीनकारदेर बाजेर अंग तो ओर बाजनाय प्रचुर छिलो''।[9] पं. रामगोविन्द पाठक अपने समय के अप्रतिम सितार एवं सुरबहार वादक थे। इसके साथ-साथ सुरश्रृंगार वादन में भी इनको कुशलता प्राप्त थी। इनके पिता पं. बच्चू पाठक अपने समय के प्रसिद्ध ध्रुपद गायक थे। इनके पितामह पं. दीनानाथ पाठक अपने जमाने के उच्चकोटि के ध्रुपद गायक तथा बीनकार थे। पं. रामगोविन्द पाठक के सुपुत्र सुविख्यात सितार वादक पं. बलराम पाठक (जन्म सन् 5 नवम्बर 1926 ई., मृत्यु 16 फरवरी सन् 1991 ई.) को कौन नहीं जानता। आप उच्चकोटि के सुरबहार वादक भी थे। सुप्रसिद्ध सितार वादक पं. रामेश्वर पाठक जी ने पं. बलराम पाठक जी के सितार वादन को सुनकर एक बार कहा था कि आने वाले समय में ये सच्चा सितार वादक होगा। पं. बलराम पाठक के पुत्र एवं शिष्य पं. अशोक पाठक (जन्म सन् 1951 ई.) को संगीत विरासत में मिली है। वर्तमान काल के सितार वादकों में पं. अशोक पाठक एक ख्याति प्राप्त सितार वादक के रूप में जाने जाते हैं। इनका सम्पूर्ण खानदान संगीतकारों का ही है। पं. पशुपति पाठक (जन्म सन् 1922 ई.) बिहार के ख्याति प्राप्त सितार वादक के रूप में जाने जाते हैं। इनका घराना ही सितार वादकों का था। आप बिहार के सुप्रसिद्ध सितार वादक पं. रामेश्वर पाठक के पौत्र थे। आपके पिता पं. सत्यनारायण पाठक एवं चाचा पं. नारायण पाठक अपने समय के जाने-माने सितार वादक थे। आपके चचेरे भाई पं. गोरेलाल पाठक भी अपने समय के एक कुशल सितार वादक थे। बिहार के गया जिलान्तर्गत पवई ग्राम के पं. जीवरंजन पाठक (जन्म सन् 1928 ई., मृत्यु सन् 9 जनवरी 2009 ई.) ख्याति प्राप्त सितार वादक थे। इनके पिता पं. सूरज पाठक अपने समय के जाने-माने टप्पा व ख्याल गायक थे। इनके दादा जी पं. समन पाठक ध्रुपद एवं ख्याल के उच्चकोटि के गायक थे। इनके चचेरे दादा जी पं. मगन पाठक भी अपने ज़माने के एक कुशल सितार वादक के रूप में जाने जाते थे। इनके चाचा पं. अवध पाठक भी एक कुशल सितार वादक थे। इस प्रकार इनका पूरा खानदान ही संगीतकारों का था, जो कई पीढियों से चला आ रहा था। मधुबनी घराने के अप्रतिम सितार वादक व पं. रविशंकर जी के शिष्य पं. उमाशंकर मिश्र (जन्म सन् 11 नवम्बर 1931 ई., मृत्यु सन् 22 सितम्बर 2011) को संगीत जगत में शायद ही कोई ऐसा संगीतकार होगा, जो इनके नाम से परिचित ना हो।

इनके पिता पं. हरि प्रसाद मिश्र अपने समय के एक कुशल गायक तथा सितार एवं सुरबहार वादक थे। पं. उमाशंकर मिश्र के पुत्र एवं शिष्य डॉ. मदनशंकर मिश्र (जन्म सन् 1957 ई,) को संगीत विरासत में मिली है। इनके पूर्वज पं. बासती मिश्र (गायक) ने 18वीं शताब्दी में मधुबनी घराने की नींव रखी। डॉ. मदनशंकर मिश्र अपने घराने के छठवीं पीढ़ी के सितार वादक हैं। बिहार के गया जिलान्तर्गत पवई ग्राम के सुप्रसिद्ध सितार वादक पं. गोपाल पाठक (जन्म सन् 01 जून 1950 ई.) का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनको संगीत विरासत में मिली है। इनके पिता पं. जीवरंजन पाठक भी एक कुशल सितार वादक थे। इनके खानदान में पिछले कई पुस्तों से संगीत की परम्परा चली आ रही है। इनके दादा पं. सूरज पाठक अपने समय के जाने-माने टप्पा व ख्याल गायक थे, तथा चचेरे दादा पं. अवध पाठक भी एक कुशल सितार वादक थे। इनके परदादा पं. समन पाठक ध्रुपद तथा ख्याल के कुशल ज्ञाता थे। इनके चचेरे परदादा पं. मगन पाठक भी अपने ज़माने के एक सर्वश्रेष्ठ सितार वादक थे। इस प्रकार इनके खानदान ख्यातिलब्ध संगीतकारों से भरा पड़ा था। बेतिया घराने के पं. गोरख मल्लिक (जन्म सन् 1895 ई.) को सितार तथा वीणावादन में कुशलता प्राप्त थी। इनके पिता

पं. बॉके मल्लिक बेतिया घराने के एक कुशल वीणावादक थे। पं. गोरख मल्लिक के चाचा पं. मंगलू मल्लिक भी सितार वादन में निष्णात थे। इसी प्रकार उन्नीसवीं सदी में एक पटना के रईस प्यारे नवाब थे जो एक नवाब होते हुए भी अपने समय के उच्चकोटि के सितार वादक थे। सितार के प्रति उनकी दीवानगी देखते ही बनती थी। प्यारे नवाब मोहम्मद रज़ा की वंश परम्परा में आते थे। प्यारे नवाब को सितार वादन की शिक्षा बासत खाँ के बड़े पुत्र व प्रसिद्ध सुरश्रृंगार वादक उ. अली मोहम्मद से प्राप्त हुई।[10] पं. गोपाल पाठक, पं. अशोक पाठक, डॉ. मदनशंकर मिश्र, पं. आशीष चटर्जी, पं. निशीन्द्र किंजल्क, डॉ. साहित्य नाहर, पं. अमिताभ चौधुरी, पं. अरूप रतन मुखर्जी आदि सितार वादक वर्तमान में सितार की परम्परा को आगे बढ़ाने में सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं।

2. सरोदवादक :- प्रहार तन्त्री वाद्य में सरोद का अपना विशिष्ट स्थान है। कुछ संगीताचार्य मानते है कि उ. सखावत हुसैन खाँ के पूर्वज काबुल से इस वाद्य को लाये थे।[11] बिहार में सरोद वादक की परम्परा में उ. असगर अली अपने जमाने के सुप्रसिद्ध सरोद वादक थे। उ. असगर अली को सुरश्रृंगार बजाने में भी कुशलता प्राप्त था। उन्होंने सरोद वादन की तालीम सर्वप्रथम अपने पिता उ. हुसैन अली, तत्पश्चात् उ. रहीम खाँ से प्राप्त की। उनके पिता उ. हुसैन अली को सुरबहार वादन में महारत हासिल था। उ. असगर अली का रागालाप उच्चकोटि का था। उन्हें सुर, लय व ताल इन तीनों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। कठिन से कठिन लयकारी भी काफी सहजता के साथ बजाकर दिखाना उनकी विशेषता थी। उनका स्वरमाधुर्य भी कुदरती था। उ. असगर अली सर्वप्रथम हथुआ महाराज के मुलाजिम थे। तत्पश्चात् अपने सरोद वादन से दरभंगा महाराज के राजदरबार की शोभा बढ़ाते रहे।

उ. मुराद अली खाँ भी एक सिद्धहस्त सरोद वादक थे। वे सरोद के जादूगर माने जाते थे। उन्होंने सरोद वादन की तालीम अपने पिता व प्रसिद्ध सरोद वादक उ. गुलाम अली से प्राप्त की थी। पं. रामचतुर मल्लिक कहा करते थे कि "उ. मुराद अली खाँ जब तार मिलाकर मींड खींचते थे तो ऐसा लगता था कि जैसे कलेजे पर सुरों का नस्तर चल गया हो। गौड़सारंग जैसे कठिन राग को उ. मुराद अली खाँ इतना सहज और प्रभावकारी ढंग से बजाते थे कि उनके वादन के बाद किसी अन्य गायक अथवा वादक को महफिल में रंग जमाना मुश्किल हो जाता था"।[12] ये रागों का आलापचारी काफी उत्कृष्ट ढंग से करते थे। उ. मुराद अली खाँ को गत रचना करने में भी महारत हासिल था। उनके गत व तान की गति धीमी होते हुए भी वादन वैचित्र्यपूर्ण होता था। वे वीणा की शैली को सरोद में लाये थे, तथा उसी प्रकार वादन भी करते थे। वे सर्वप्रथम हथुआ महाराज के दरबार में थे। तत्पश्चात् वे अन्त तक दरभंगा महाराज के दरबारी वादक के रूप में रहे। उनके शिष्यों में उ. अब्दुल्ला खाँ, उ. अमीर खाँ, ब्रजेन्द्र किशोर तथा वीरेन्द्र किशोर आदि प्रमुख हैं। गयवाल पंडों में बिहारीलाल टाटक, कमललाल भइया विश्वनाथ भट्ट आदि भी उ. मुराद अली खाँ के शिष्यों में आते हैं जिन्होंने सरोद की परम्परा को आगे बढ़ाने में अपना अमूल्य योगदान दिया। इसके अलावा बच्चनलाल पाठक, भैयालाल चोंच, मटुक पाठक आदि सरोद वादकों ने भी बिहार में इस परम्परा को आगे बढ़ाया। सरोद वादकों में उ. अब्दुल्ला खाँ एक अद्वितीय सरोद वादक माने जाते थे। उन्होंने सरोद वादन की तालीम प्रसिद्ध सरोद वादक उ. मुराद अली खाँ से प्राप्त की थी। वे अपने सरोद वादन में आलाप, जोड़ व झाला का प्रदर्शन बहुत ही सुगमता के साथ करते थे। कठिन से कठिन राग को भी काफी सहजता पूर्वक वादन करना उनकी विशेषता थी। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन दरभंगा में ही व्यतीत किया। उ. अमीर खाँ (जन्म सन् 1876 ई.) को भी संगीत विरासत में मिला था। उ. अमीर खाँ ने सरोद वादन की प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता उ. अब्दुल्ला खा से ही प्राप्त की थी। उ. अमीर खाँ को गत बनाने में महारत हासिल था। प्रख्यात सरोद वादक उ. अलाउद्दीन खाँ भी उ. अमीर खाँ के गतों की बहुत तारीफ किया करते थे। इनके शिष्यों में राधिका मोहन मोइत्र, तिमिर वरण भट्टाचार्य, आशुतोष कुन्डु, कुमार जगतनाथ मित्र, विश्वनाथ चक्रवर्ती, नृपेन्द्र कृष्ण मित्र, शीतल चन्द्र मुखर्जी तथा पन्नालाल रॉय चौधुरी आदि का नाम

प्रमुख है। मैहर सेनिया घराना के उस्ताद बाबा अल्लाउद्दीन खाँ के शिष्य परम्परा में बिहार के प्रो. चन्द्रकान्त लाल दास (जन्म 4 जनवरी सन् 1934 ई., मृत्यु 17 अगस्त 2017 ई.) अद्वितीय सरोद वादक थे। इनकी सुपुत्री विदुषी रीता दास (जन्म 24 नवम्बर सन् 1974 ई.) बिहार की एक कुशल सरोद वादिका हैं। इन्हें मैहर सेनिया घराना के कई सुप्रसिद्ध संगीतकारों के मार्गदर्शन में सरोद सीखने का सौभाग्य प्राप्त भी हुआ। विदुषी रीता दास वर्तमान में बिहार में सरोद की परम्परा को आगे बढ़ाने में प्रयत्नरत हैं।

3. सारंगीवादक :- गायन के साथ संगत के लिये सारंगी को ही उपयुक्त वाद्य माना गया है। राधागोविन्द संगीतसार में लिखा है कि रावणहस्त वीणा को लौकिक में सारंगी कहते हैं।[13]

डॉ. लालमणि मिश्र के अनुसार सारंगी की परिकल्पना 'रावणास्त्र' तथा 'रावणहस्त वीणा' से हुई।[14] सुप्रसिद्ध गायक उ. अमीर खाँ, उ. करीम खाँ, उ. बड़े गुलामअली खाँ प्रारम्भ में सारंगी बजाते थे। मुंगेर राजदरबार में उ. टुन्नी खाँ जैसे उच्चकोटि के सारंगीवादक नियुक्त थे।[15] बिहार के सारंगी वादकों की परम्परा में उ. अता हुसैन खाँ का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। आप अपने समय के ख्याति प्राप्त सारंगी वादक थे। उनके सारंगी वादन में तारों की खनक काफी लाजवाब था। उन्होंने सारंगी वादन की तालीम अपने पिता व प्रख्यात ठुमरी गायक उ. बहादुर खाँ से प्राप्त की थी। उ. बहादुर खाँ ठुमरी के महान् ज्ञाता थे। उ. अता हुसैन खाँ दरभंगा महाराज के मुलाजिम थे। सारंगी नवाज़ उ. रौशन अली इनके प्रमुख शिष्यों में से हैं। सारंगी वादकों की परम्परा में उ. मकबूल हुसैन खाँ (जन्म सन् 1935 ई.) भी जाना-पहचाना नाम है। इनके पिता उ. लल्लू खाँ अपने समय के ख्यातिलब्ध सारंगी वादक थे। वर्तमान समय में बिहार के सारंगी वादकों की परम्परा को उ. रौशन अली (जन्म सन् 1944 ई.) बखूबी निभा रहे हैं। इन्होंने सारंगी वादन में ऊँचा मोकाम हासिल किया तथा काफी नाम भी अर्जित की। आपके पिता उस्ताद दिलावर हुसैन खाँ एक प्रसिद्ध तबला वादक थे। आपके नाना उस्ताद अताहुसैन खाँ तथा उस्ताद चुन्नू खाँ अपने समय के बिहार के जाने माने सारंगी वादकों में गिने जाते थे। आपके परनाना उस्ताद बहादुर खाँ अपने समय के पटना के प्रख्यात सारंगी वादक थे। इसके अलावा बिहार के छपरा जिले के शिवदास मिश्र तथा हाकिम मिश्र को भी सारंगी बजाने में कुशलता प्राप्त थी। बिहार के सारंगी वादकों की परम्परा में कुंजा मल्लिक, गोपाली मल्लिक, हीरा गुरू, लडडन खाँ, शिव सहाय, शम्भूनाथ मिश्र आदि जैसे सुप्रसिद्ध सारंगी नवाज़ का नाम भी विशेष रूप से लिया जाता है।

4. इसराजवादक :- इसराज की उत्पत्ति विषय में विमलाकान्त रॉय चौधुरी का मत है कि "सितार की डान्ड पर 'सरिन्दा' के समान खोल मढ़कर इस वाद्य का उद्भव हुआ"।[16] इस सम्बन्ध में एस. एम. टैगोर का कहना है कि "सारंगी और सितार के मिश्रण से इसराज की उत्पत्ति हुई"।[17] बिहार के गया जिले में इसराज वादकों की परम्परा रही है। पं. हनुमान दास (जन्म सन् 1835 ई., मृत्यु सन् 1931 ई) इसराज के सिद्धहस्त वादक थे। उन्हें ध्रुपद व ख्याल गायन पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त था। पं. हनुमान दास जी एक ऐसे कलाकार थे, जिनका गायन सुनने के लिये पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर सन् 1922 ई. में गया पधारे थे। पं. हनुमान दास जी इसराज वादन व गायन की शिक्षा स्वयं अपने पिता पं. हरिदास जी के सानिध्य में रहकर प्राप्त की थी। इसके पश्चात् इन्होंने सुप्रसिद्ध सुरश्रृंगार वादक उ. मुहम्मद अली से भी तालीम प्राप्त की थी। पं. हनुमान दास जी के शिष्यों में पं. कन्हाई लाल ढ़ेढ़ी, ब्रजेन्द्र किशोर राय चौधुरी, धीरेन्द्र चन्द्र मित्र, शीतल चन्द्र मुखर्जी तथा राम बख्श आदि प्रमुख थे। गया जिले के पं. कन्हाई लाल ढ़ेढ़ी (जन्म सन् 1870 ई.) अपने समय के अद्वितीय इसराजवादक थे।

उनका राग हिन्डोल बहुत प्रसिद्ध था। इनके शिष्यों में चंद्रिका प्रसाद दुबे तथा अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, पं. बुलाकीलाल तथा योगेन्द्र नाथ गांगुली आदि प्रमुख थे। दैवयोग से ऐसे महान् इसराज वादक चालीस वर्ष की अल्पायु में ही स्वर्गलोक सिधार गए। गया जिले के ही पं. चन्द्रिका प्रसाद दुबे (जन्म सन् 1875 ई.) अपने समय के अप्रतिम इसराज वादक थे। उन्होंने इसराज को बंगाल में

काफी लोकप्रिय बनाया। उनका इसराज वादन सुनकर अगरतला महाराज ने उन्हें इनाम स्वरूप एक हाथी भेंट की थी। उनके इसराज वादन से प्रभावित होकर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उन्हें शान्ति निकेतन आमंत्रित किया था। प्रख्यात सरोद वादक उ. अलाउद्दीन भी इनके इसराज वादन की प्रशंसा किया करते थे। उन्होंने इसराज वादन की शिक्षा सुप्रसिद्ध इसराज वादक पं. हनुमान दास तथा पं. कन्हाई लाल ढ़ेंढ़ी से प्राप्त की थी। पं. चन्द्रिका प्रसाद दुबे के इसराज वादन की विशेषता यह थी कि वे छः राग एवं छत्तीस रागिनियों की रागमाला कुशलतापूर्वक प्रस्तुत करते थे। उन्हें संगीत के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान के लिये 'संगीत भूषण' सम्मान से अलंकृत किया गया था। गया जिले के बुलकलाल भइया तथा भिखनलाल भइया अपने समय के प्रख्यात इसराज वादक हुए। पं. हरेन्द्र दुबे (जन्म सन् 1934 ई.) आधुनिक काल के प्रख्यात इसराज वादक रहे हैं। इनके दादा पं. चन्द्रिका प्रसाद दुबे अपने समय के महान इसराज वादक थे। पं. हरेन्द्र दुबे इसराज वादन की शिक्षा अपने दादा पं. चन्द्रिका प्रसाद दुबे से प्राप्त की थी। इन्होंने बिहार में इसराज वादन की परम्परा को कुशलता पूर्वक आगे बढ़ाकर काफी ख्याति अर्जित की। इनकी मृत्यु के बाद बिहार में इसराज वादन की परम्परा लगभग समाप्त ही हो गयी।

5. वॉयलिन वादक :- वर्तमान समय में वॉयलिन एक लोकप्रिय वाद्य माना जाता है। वॉयलिन को उत्तर भारत में 'बेला' के नाम से सम्बोधित किया जाता है।[18] विमलाकान्त रॉय चौधुरी ने अपनी पुस्तक "भारतीय संगीत कोश" में वॉयलिन को "बेहला" कहा है।[19] बिहार में वॉयलिन जैसे वाद्य को प्रतिस्थापित करने में पं. टी. एम. पटनायक (तौनगी मोहन पटनायक) (जन्म 26 नवम्बर, सन् 1919 ई.) का बहुत बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने ही बिहार में वॉयलिन को एक नयी पहचान दिलायी। बिहार में वॉयलिन जैसे तन्त्री वाद्य की परम्परा का श्रेय उन्हीं को जाता है। वे सुरों के वादशाह थे। एक दक्षिण भारतीय संगीतकार होते हुए भी उन्हें उत्तर भारतीय संगीत में भी कुशलता प्राप्त थी। पं. राजकिशोर प्रसाद सिन्हा (जन्म 25 नवम्बर सन् 1930 ई.) बिहार के लब्धप्रतिष्ठित वायलिन वादकों की श्रेणी में आते हैं तथा पं. टी. एम. पटनायक जी के वरिष्ठ शिष्यों में गिने जाते हैं। आपने बिहार में वॉयलिन की परम्परा को आगे बढ़ाने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। बिहार के नामचीन वायलिन वादकों में पं. बागेश्री प्रसाद (जन्म 9 अगस्त सन् 1934 ई.) का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। पं. शिव प्रसाद जायसवाल (जन्म सन् 01 नवम्बर 1932 ई., मृत्यु 19 दिसम्बर सन् 2008) बिहार के एक ख्यातिलब्ध वॉयलिन वादक थे।

इन्होंने बिहार में वॉयलिन की परम्परा को आगे बढ़ाने में सराहनीय कार्य किया। इनके सुपुत्र पं. राजेश जायसवाल (जन्म 24 अक्टूबर सन् 1962 ई.) वर्तमान समय में बिहार के ख्याति प्राप्त वॉयलिन वादक माने जाते हैं। वर्तमान समय के वॉयलिन वादकों में डॉ. सन्तोष नाहर, डॉ. रंजन कुमार, पं. गौरव नाहर, पं. राजेश जायसवाल आदि वॉयलिन की परम्परा को आगे बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

संदर्भ -

1. बन्दोपाध्याय श्रीपद्, सितार-मार्ग, पृष्ठ 2.
2. बन्दोपाध्याय श्रीपद्, सितार-मार्ग, पृष्ठ 2.
3. महाडिक डॉ. प्रकाश, भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य, पृष्ठ 17 से 26 तक।
4. परांजपे डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृष्ठ 171.
5. महाडिक डॉ. प्रकाश, भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य, पृष्ठ 28.
6. शर्मा डॉ. राम प्रकाश, मिथिला का इतिहास, पृष्ठ 59.
7. प्रतापसिंह देव राजा सवाई, राधागोविन्द संगीतसार, पृष्ठ 7.
8. सिंह गजेन्द्र नारायण, बिहार की संगीत परम्परा, पृष्ठ 102.
9. सिंह गजेन्द्र नारायण, बिहार की संगीत परम्परा, पृष्ठ 103,104.
10. शर्मा अमल कुमार दास, विश्व संगीत का इतिहास, पृष्ठ 53.
11. महाडिक डॉ. प्रकाश, तन्त्री वाद्यों की वादन कला,

पृष्ठ 9.
12. सिंह गजेन्द्र नारायण, बिहार की संगीत परम्परा, पृष्ठ 106.
13. राधागोविन्द संगीतसार, राजा सवाई प्रतापसिंह देव, पृष्ठ 8.
14. मिश्र डॉ. लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य, पृष्ठ 121.
15. शर्मा अमल कुमार दास, विश्व संगीत का इतिहास, पृष्ठ 150.
16. चौधुरी विमलाकान्त रॉय, भारतीय संगीत कोश, पृष्ठ 120.
17. टैगोर एस. एम., यन्त्र कोश, पृष्ठ 75.
18. महाडिक डॉ. प्रकाश, तन्त्री वाद्यों की वादन कला, पृष्ठ 17.
19 चौधुरी विमलाकान्त रॉय, भारतीय संगीत कोश, पृष्ठ 132.

लोक संगीत और जन रजंन

डॉ. श्रुति होड़ा

सृष्टि के आरम्भ से ही लोक संगीत की परम्परा मानव समाज में विद्यमान है। भारत में लोकसंगीत प्राचीन काल से परम्परा में विद्यमान है। हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में लोकगीत से सम्बंधित साक्ष्य उपलब्ध है, प्राचीन साहित्यों में विभिन्न गाथाओं का उल्लेख मिलता है, इन्हें लोक गीत का पूर्व प्रतिनिधि कह सकते हैं। लोक संगीत जीवन के प्रारम्भ से एवं जीवन के अन्त तक किसी न किसी प्रकार से मनुष्य से सम्बद्ध होता है। लोक संगीत का जन्म सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा से हुआ है। सदैव से प्रकृति के रमणीय दृश्य मानव मन को आनन्दित करते आ रहे हैं। सृजनशील मन आनन्द विभोर हो उठता है और उसे आन्तरिक प्रेरणा मिलती है कि इन अद्‌भुत दृश्यों को वह स्वयं अपनी कला में पिरो दे। मनुष्य की इस स्वाभाविक रचनात्मक प्रवृति के फलस्वरूप अनेक शिल्प कौशलों का जन्म हुआ। इस दिव्य अनुभूति को कभी वह स्वर के माध्यम से, कभी शब्दों के माध्यम से तो कभी रंग रेखाओं के माध्यम से व्यक्त कर देता है। इस प्रकार साहित्य, संगीत तथा कला तीनों सामाजिक जन-जीवन रूपी वृक्ष से निकली हुई शाखाएं है। साहित्य और संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के आधार से दूसरे की मिठास बढ़ती है। दोनों एक दूसरे के पूरक है। दोनों का उद्देश्य व्यक्तिगत तथा सामाजिक उत्थान है। दोनों का कार्य मानव जीवन का उत्थान है। दोनो ही हमारी संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग है। संगीत को सभी कलाओं में श्रेष्ठ माना गया है। संगीत हमारी गौरवमयी परम्परा है इसीलिए हमारी संस्कृति में एक अहम् भूमिका का निर्वाह करता है। हमारी समस्त लोक कलाओं और लोक साहित्य का सुन्दर सम्मिश्रण लोक संगीत में दिखाई देता है।

भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के लिए लोक शब्द का प्रयोग बहुपरिचित है। यद्यपि आज लोक कलाओं के उत्थान की दृष्टि से बहुत विचार किया जा रहा है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी लोक शब्द का प्रयोग दिव्य तथा पार्थिव अर्थों में किया गया है। इस के बाद समय-समय पर लोक शब्द का प्रयोग होता रहा है। लक्ष्मी नारायण गर्ग के अनुसार सूरदास के पदों में लोक शब्द का प्रयोग मिलता है। महाकवि तुलसी दास जी की रचना में-

नन्द-नन्दन के नेह मेह जिन लोक-लीक लोपी।

''लोक की वेद बडेरो'' इस प्रकार लोक शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि लोक शब्द जन समाज के लिए प्रयुक्त हुआ है तथापि कुछ समय पूर्व संस्कृति ने इसे मात्र ग्राम्य मानकर हेय दृष्टि से देखा था। लेकिन आधुनिक लोकतन्त्र की प्रेरणा से यही लोक शब्द अब सम्मान सूचक बन गया है। लोक कला, लोक संगीत, लोक साहित्य तथा लोक संस्कृति इत्यादि शब्दों में लोक का प्रयोग आधुनिक अर्थ में ही किया जाता है।

डा. मोहिन्दर सिंह रंधावा के अनुसार ''धार्मिक वाणी को यदि आकाश से अवतरित कहा जा सकता है तो लोक संगीत को धरती से उत्पन्न कहा जा सकता है।'' स्पष्ट है कि लोक संगीत सामान्य जन-जीवन से जुड़ा होने के कारण उसे धरती से उत्पन्न हुआ माना गया है। लोक संगीत सामूहिक चेतना की उपज है। मानव जीवन के नित्यकर्मों से गहराईयों से जुड़ा हुआ होने के कारण लोक संगीत

एसोसिएट प्रोफेसर, पी.जी.जी.सी. सेक्टर-2 चण्डीगढ़

को धरती से उत्पन्न हुआ माना गया है। मानव जीवन के नित्यकर्मों से गहराईयों से जुड़ा होने के कारण लोक संगीत को सामूहिक भावनाओं का प्रतीक मानते है। लोकसंगीत जन जीवन की उल्लासमयी अभिव्यक्ति है। मानव जीवन की सुख-दुःख, विरह-वेदना, धार्मिक पौराणिक कथा, सामाजिक तथा सांस्कृतिक गाथा इत्यादि विषयक नृत्य, गीत एकल या संयुक्त रूप से प्रान्तीय या आंचलिक भाषा में गाये जाने वाले संगीत को लोकसंगीत या लोक गीत कहते है। भावों की सरलतम तथा मधुरतम अभिव्यक्ति ही लोक संगीत का प्रयोजन है। लोक संगीत उस सुरसरि के समान है जिसका लक्ष्य लोक कल्याण है, त्रिताप-संतप्त मानस भूमि को आप्लवित कर उसे सरस एवं उर्वर बनाता है।

लोकसंगीत उसे कहा जा सकता है, जिसका स्वरूप लोक रंजनकारी है तथा विशिष्ट जन समुदाय की समझ तक ही जो मर्यादित नहीं है। बहुजन समाज की अन्तः स्थली को संगीतामृत से सिंचित करने वाले ऐसे लोक संगीत की उपादेयता विद्वानों के अध्ययन का विषय बनी हुई है।

जब जनमानस की भावनाएं चेतन-अवचेतन रूप में गीत-बद्ध हो कर अभिव्यक्त होती है तो उन्हें लोकगीत कहते है। इन गीतों में उनके जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, आशा-निराशा की अभिव्यंजना रहती है। इनमें अलंकार नहीं होते वरण रस होते हैं। कोई धुन जब प्रयोग में आते-आते इतनी रंजक, सुगेय तथा स्थायी बन जाती है कि जनमानस उसे सरलतापूर्वक अपने मानसिक आहार के रूप में ग्रहण कर ले तो वह लोकसंगीत का रूप ले जाती है। लोक संगीत में स्वर, ताल और लय को खोजना नहीं पड़ता वरन् वे स्वतः भाव लज्जा के निमित उपस्थित हो जाते है। लय इन गीतों में इस प्रकार समाई रहती है कि जैसे शरीर में रक्त। जन जीवन के अनेक पहलू लोक गीतो के विषय है जैसे सोहर, बन्ने, बन्नी, मुंडन, नामकरण इत्यादि। अर्थात लोक गीतों में लोक जीवन के दर्शन होते है। डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय के शब्दों में - ''लोकगीतों में मानव हृदय के भाव लोक जीवन के सामान्य धरातल पर उतर कर आशा-निराशा, आकर्षण-विकर्षण, प्रणय-कलह आदि के रूप में व्यक्त हुए है। लोक-गीतों में इस अभिव्यक्ति में हमें मानव जीवन की उस प्रारम्भिक स्थिति के दर्शन होते हैं जहाँ साधारण मनुष्य अपनी लालसा, उमंग उल्लास, प्रेम एवं घृणा आदि भावों को प्रकट करने में समाज द्वारा मान्य शिष्टाचार के क्रमिक बन्धनों को स्वीकार नहीं करता, स्वछन्द भावना और उसकी स्वछन्द अभिव्यक्ति लोक गीतों का प्रथम लक्षण है।'' जिसका उदाहरण इस प्रकार है। सास-बहू के आपसी संबंध में-

गयो-गयो री राज तेरा राज,
जमानो आयो बहुअन का
जोगनिया बनके निकर जाऊगीं
सास तेर बोलम में
यों मत जाने सासुल
इकली चली जाऊँगी
तेरा बेटाय संग में ले जाऊगी
सास तेरे बोलन में

लोक संगीत मर्म को स्पर्श करता है और हृदय तन्त्र को झंकृत करता है। मनुष्य इनके प्रवाह में बहकर नाना प्रकार के रागात्मक और भावात्मक जाल गूँथता रहता है और सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उनमे अभिव्यक्त करता है। इससे उसे सृजनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है, वह अपने दुःख में भी सुखी अनुभव करता है तथा भावालोक में अभिव्यंजित होकर स्वयं को पूर्ण वैभवशाली अनुभव करने लगता है। इसकी भावनाएं व्यापक और समुन्नत होती है।

आदि काल से आज तक धरती पर निरन्तर लोकगीत झूमते रहते है। कुछ माह जो ऐसे होते है जिनमें दिन रात गीतों की बहार रहती है जैसे सावन भर कजरी गाई जाती है और फाल्गुन के गीत फाग, होली, होरी, धमार, झूमर आदि अनेक नामो से सम्बोधित किये जाते हैं। फाल्गुन का शुभारम्भ बसन्त पंचमी के दिन से होता है किन्तु इस की इतनी मादकता है कि जनमानस बसन्तपंचमी से पहले ही इसे गुनगुनाना प्रारम्भ कर देते हैं। बृज भाषा की होली तो सम्पूर्ण भारत में अपना विशेष महत्व रखती है।

होली खेलन कैसे जाऊ सखी री
हरि हाथन पिचकारी रहत है।।
होली के खेलैया संभल होली खेलो।

या नगरी में राधा प्यारी रहत है।।
सब की चुनरिया रंग में भिजोई
हमरी चुनर गुलनारी रहत है।।
कोई सखी गावत कोई बजावत।
हमको तो सूरत तिहारी रहत है।।

होली के यह बहुरंग जनमानस को अपने रंग में इतना सराबोर कर देते है मानो आनन्द की चल सीमा आ गई हो। होली देखने वालों की टोलियाँ रंग खेलती हुई धमार गाती है और इनका संगीत के लिए प्रधान वाद्य ढोल होता है। कन्हैया और गोपी का होली खेलने का चित्रण धमारों की विशेषता है।

दरबार में गाये जाने वाले धमारों में शहंशाह भी नायक होते थे। तानसेन अपनी रचनाओं में अकबर बादशाह का नाम डाल दिया करते थे। एक धमार में मानिनी नायिका और दूती का बड़ा ही मनमोहक चित्रण है-

होली खेलई बनैगी, रुसे अब न बनैगी
मेरी कहो तू मान नवेली,
जब वा रंग में सनेगी,
कई बेरि आई गई तू
नाहि मानत, ऊंची करि टोंडी भौहे तरैगी
साहि जलालऊद्दीन अकबर बादशाह।
फगुआ दीजे,
आप तै आप मनेगी।

इस प्रकार लोकसंगीत का वातावरण उत्साह, उमंग और तन्मयता से तल्लीन पाया जाता है। लोकसंगीत के गायकों का भी लक्ष्य तल्लीनता और आनन्द की सृष्टि है। सृष्टि के आनन्द का दूसरा रूप दिखाई देता है, सावन के महीने में। आकाश में काली घटाएं घिर आई है। बिजली चमक रही है और रिमझिम-रिमझिम करती बून्दे मानव मन को अन्दोलित कर रही है। बाग-बगीचों में रंग-बिरंगे फूल खिल रहे है। पशु-पक्षी आनन्द विभोर हो रहे हैं। ऐसे सुन्दर प्राकृतिक वातावरण में युवतियाँ झूला झूलते हुए गा उठती है-

नन्ही-नन्ही बुंदियाँ रे, सावन का मेरा झूलना
घिर-घिर आई बदरिया हो रामा
कैसे मै खेलू कजरिया हो रामा।

सावन की सरसता, नेत्रों को सुख पहुँचाने वाली मखमली हरियाली, रिमझिम फुहार इनका वास्तविक चित्र या तो साहित्य की विविध विधाओं में देखने को मिलता है या चित्रकार की विविध कृतियों में अथवा कजरी गीतों में। वर्षा ऋतु के आगमन पर जिस नई उमंग व उल्लास का संचार होता है उसकी अभिव्यक्ति रंगों और गीतों में बड़ी मनमोहक लगती है। भारतीय ऋतुओं की इस रसमयी प्रकृति ने यहाँ के संगीत, साहित्य और कलाओं को समान रूप से प्रभावित किया है। यहाँ की काव्यकला, संगीतकला एवं चित्रकला में प्रायः सभी ऋतुओं पर रचनाएँ देखने को मिलती है। इन ऋतुओं की रसीली प्रकृति किसी भी भावुक मन को सहज ही मुग्ध कर लेती है। सहित्यकार हो या चित्रकार या संगीतकार इन सब ऋतुओं की श्रृंगारिक प्रकृति से प्रेरित होकर कलात्मक सृजन की ओर आकृष्ट होते हैं। जो समाज लोक सहित्य की परम्परा से जितनी गहराई से जुड़ा होता है वह उतना ही संवेदनशील तथा मानवीय होता है। इसके विपरीत जो समाज लोक सहित्य और लोकजीवन की परम्परा से रहित होता है वह उतना ही क्रूर, अमानवीय और संकटग्रस्त होता है।

अस्तु लोक संगीत वह सार्वभौम संगीत है जो प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय संकीर्णताओं से परे अन्य ललित कलाओं की अपेक्षा अधिक व्यापकता लिए हुए है। स्वरों एवं सूक्ष्मता का ज्ञान न होते हुए भी एक साधारण रसिक मानव नाद की सम्मोहिनी शक्ति से आकृष्ट हो उसका रसास्वादन कर सकता है। निष्कर्षतः लोकसंगीत का क्षेत्र अत्यन्त समृद्ध है। अभी भी इस क्षेत्र में शोध संभावनाए अपेक्षित है।

''पंजाब अंग की ठुमरी''

डॉ. मिली वर्मा

ठुमरी एक अत्यन्त आकर्षक गायन शैली है जो हमारे हिन्दुस्तानी संगीत की अनमोल निधि है। श्रृंगार रस से परिपूर्ण इस शैली में स्वर, पद, लय, लयकारियाँ, ताल व वाद्यों की विशिष्टतायें इस सब का सुन्दर समावेश परिलक्षित होता है जो नृत्य की ओर प्रवृत होता है। जहाँ इसमें एक सागर की विशालता का बोध होता है। जितनी रसानुभूति ठुमरी से प्राप्त होती है उतनी अन्य शैलियों से सम्भव नहीं। वस्तुत ठुमरी सम्पूर्ण रूप से रस-भाव से ओतप्रोत एक मनोहारी संगीत शैली है। यही कारण है कि आधुनिक युग में इसका क्षेत्र अत्यन्त विशद हुआ है। ठुमरी शब्द एकमत के अनुसार तोमरी शब्द से आया है। राजा मानसिंह तोमर जो ध्रुपद के आविष्कारक हुये हैं, उन्होंने भैरवी के स्वरों में विवादी स्वरों के प्रयोग से ठुमरीनुमा शैली का अनुभव करके तोमरी नामक शैली का आविष्कार किया।'' तोमरी शब्द धीरे-2 बदलते बदलते 'ठुमरी' बन गया।[1] एक दूसरे मत के अनुसार ''बादशाह नसरूद्दीन हैदर के पोते वजीर मिर्जा (कदर पिया ठुमरी के प्रवर्तक रहे हैं।''[2] यह भी माना जाता है कि ठुमरी शब्द अथार्त ठुमकने की क्रिया से व्यवहार में आया है। ठुमरी के उद्भव के बारे में जो भी मत-मतान्तर हो परन्तु यह निश्चित है कि यह अत्यन्त भावपूर्ण, शब्द प्रधान, श्रृंगार रस से पूर्ण प्रणय गीत की शैली है। नृत्य गीत के इसका घनिष्ट सम्बन्ध हुआ। इसकी भावनात्मक अभिव्यक्ति की अपार सम्भावनाओं के फलस्वरूप ही इसे नृत्य के लिये सर्वाधिक उपयोगी माना गया। ठुमरी के विकास में और उसके प्रचलन में ''बाजिद अली शाह, उनके गायक कव्वाल बच्चों के उस्ताद सादिक अली खाँ और लखनऊ घराने के कत्थक नर्तक महाराज विंदादीन प्रमुख थे।''[3] ठुमरी के विकास में दिलीप चन्द्र बेदी लिखते है कि भैया गनपत राय ने ठुमरी गायन मे ऐसी तराशे पैदा की कि सुन्दर गायकी का जन्म हुआ और ठुमरी गान भैया सोहन की बदौलत इतना प्रचलित हुआ।

बोल बनाव की ठुमरी का प्रसार विशेष रूप से उत्तर भारत के पूर्वी भाग अर्थात पूर्वी उत्तर प्रदेश की ओर अधिक होने के कारण इसे प्रायः पूरब अंग की ठुमरी या 'पूरबी ठुमरी' कहा जाता है।'' उत्तर भारत के पूर्वी प्रदेशों से सम्बद्ध होने के कारण पूर्वी अंग की बोल बनाव का बहुत प्रभाव है।''[4] कालान्तर में इसके दो रूप बने। लखनवी शैली तथा बनारसी शैली। लखनवी शैली में ब्रजभाषा के साथ अवधी व लखनऊ के आस-पास की भाषा का प्रयोग मिलता है तथा बनारसी शैली में पूर्वी प्रदेशों की लोक धुनों, लोक गीतो और बोलियाँ का प्रभाव दृष्टव्य हुआ। कहा जाता है कि ''बिन्दादीन के भाई कालका प्रसाद ठुमरी शैली को बनारस ले गये और उन्हीं के द्वारा वहाँ की तवायफों में इसका प्रचार हुआ।''[5]

पूरब अंग की ठुमरी के काफी बाद पंजाब अंग की ठुमरी विकसित हुई। इस ठुमरी का जन्म आज से 60-70 वर्ष पूर्व माना जा सकता है। ''ठुमरी की पंजाबी शैली का आरम्भ आज से लगभग 60 वर्ष पूर्व कसूर के सुप्रसिद्ध गायक स्व. अली बख्श खां द्वारा हुआ। उन्हें ठुमरी का ज्ञान लखनऊ में स्व. ठाकुर नवाव अली खां के संपर्क से हुआ था। बाद में पंजाब अंग की शैली को प्रतिष्ठित करने वालों में

ए. पी. जे. कॉलेज ऑफ फाईन आर्ट्स, जलन्धर

स्वर्गीय अली बख्श खां के पुत्र अथार्त पंजाब के सुविख्यात गायक स्वर्गीय बड़े गुलाम अली खां और उनके छोटे भाई स्वर्गीय बरकत अली खां का नाम विशेष रूप से लिया जाता है।''[6]

'पूरब' और 'पंजाब' इन दोनो अंगों के ठुमरी गान में केवल स्वरों के बर्ताव की भिन्नता के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। प्रायः यह देखा गया है कि पंजाब अंग की ठुमरी में गाने वाले लोग हिन्दी की व्रज गान में पंजाब प्रदेश के हीर, माहिया, टप्पा, मुलतानी, काफी सिन्धी और पहाड़ी आदि लोकगीतों की धुनों के वैचित्र्यपूर्ण स्वर संदर्भों का समावेश करते हुये उन्हें अपने विशिष्ट ढ़ंग से गाते हैं।''[7]

इस दृष्टि से एक ही ठुमरी को गाते हुये केवल स्वर वैचित्र्य, उसके लगाव अथवा स्वरसन्निवेशों के बर्ताव को बदल लेने पर पूरब अंग या पंजाब अंग दिखाया जाता है।

पंजाब अंग की ठुमरी में स्वर वैचित्र्य, कण, मुर्की, खटका टप्पा शैली, छोटी-2 खटकेदार तानों का प्रयोग इन सबका समावेश मिलता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का पंजाब से गहरा सम्बन्ध रहा है। ठुमरी शैली में पंजाब के कलाकारो ने विशेष दक्षता प्राप्त की है। उपनी साधना दक्षता प्राप्त करके नवीन कल्पनाओं से अलंकृत करते हुये अनोखी सूझबूझ, भावुकता कल्पना तथा गले की सूक्ष्म हरकतों से ठुमरी को एक स्वतन्त्र रूप प्रदान किया है। इसमे कलात्मक अथवा चमत्कारपूर्ण गायन का समावेश किया है। पंजाब के मशहूर गायकों ने सर्वप्रथम पूरब अंग की ठुमरी को सीखा और इनमें पंजाबी लोकगीतों पहाड़ी धुनों तथा सूफियाना कलामो को मिश्रित करते हुये गले की सूक्ष्म हरकतों से सजाते हुये नवीनता प्रदान की। ठुमरी का जो स्वरूप पंजाब में विकसित हुआ वह सम्पूर्ण उत्तर भारत में लोकप्रिय सिद्ध हुआ। पंजाब के कलाकारों ने नई उदभावनाओं, कल्पनाओं, टप्पा अंग की तानों आदि से संवार कर एक सर्वथा नवीन प्रकार की ठुमरी को विकसित किया जो पंजाब की निजी विशेषता बन गई और पंजाब अंग की ठुमरी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

पंजाब अंग की ठुमरी में पंजाब के लोक-गीतों की छाया स्पष्ट दिखती है। यही कारण है कि इन ठुमरियों में डोगरी, पहाड़ी व पंजाब की प्रत्येक बोली का प्रभाव परिलक्षित होता है। पंजाब अंग की ठुमरी में, ध्रुपद देखने को मिलती है। अतः इसे चौमुखिया गायकी भी माना जाता है।

पंजाब अंग की ठुमरी सुनकर सहज ही आभास हो जाता है कि इस गायन शैली ने गायकी की हर शैली को अपना कर एक सुन्दर स्वरूप तत्वों को अपने भीतर समेटे हुये है। मींड, मुर्की, सूत, कण, खटका आदि सुन्दर क्रियाओं के कुशल प्रयोग से यह शैली चिन्ताकर्षक हो जाती है। यद्यपि इन क्रियाओं का प्रयोग एक जटिल कार्य है तथा पंजाब अंग की ठुमरी को गाना सरल कार्य नहीं है अपितु पंजाब के कुशल गायक अपने गले की तैयारी से इसे बड़ी सहज भाव से गाते देखे जाते है। इन कलाकारों के गले की तैयारी स्वर वैचित्र्य, विचित्र्य ढ़ंग से स्वर लगाव तथा सहज भाव तीनों सप्तकों में फिरकी की तरह घूमना आदि बाते बहुत आश्चर्य जनक प्रतीत होती है। पंजाबी गायक पंजाब अंग की ठुमरी में मुर्की का प्रयोग बहुत सहज भाव तथा करते हुए देखे गये है। स्वर वैचित्र्य के साथ-2 स्वर के दोनों रूपों का एक साथ प्रयोग भी इस ठुमरी की विशेषता है। ठुमरी की भावपूर्ण रचनाएँ अधिकतर पंजाबी भाषा में मिलती हैं। जिस प्रकार पूरब अंग की ठुमरी में बोंल की ठुमरी में भी बोल बनाव के साथ ठुमरी को टप्पानुमा तानों अथवा बोलतानों का प्रयोग करते हुये गायकी को आकर्षक बनाया जाता है। पंजाबी अंग की ठुमरी का स्वर विस्तार क्षेत्र पूरब अंग की ठुमरी की अपेक्षा तीनों सप्तकों में रहता है। तार के स्वरों में यह अधिक खिलती है।

पंजाब अंग की ठुमरी पर टप्पा गायन शैली का प्रभाव सर्वाधिक रहता है। वस्तुत 'टप्पा' गायन शैली भी पंजाब की ही गायन शैली है जो पंजाब अंग को दर्शाती है।

ठुमरी में टप्पा का सर्वाधिक प्रभाव रहने से ही पंजाब अंग की ठुमरी की पहचान बनती है। पदो के बीच में टप्पानुमा तानो को जोड़ना व खटकों मूर्कियों का प्रयोग करना इस ठुमरी की विशेषता बन गया है। गाने के बोलों की अपेक्षा तानों पर अधिक जोर देना बोल-पक्ष को थोड़ा कमजोर भी कर देता है। यह विशेषता इस ठुमरी शैली को थोड़ा कमजोर भी

कर देता है। यह विशेषता इस ठुमरी शैली को पूरव अंग की ठुमरी से सहज में अलग कर देती है।

पंजाब अंग की ठुमरी को किराना घराने के अब्दुलकरीम खां, आफताबे मौसिकी उस्ताद फैयाज खाँ आदि महान कलाकारों ने अपनामा जिससे इस ठुमरी को मानव प्रतिष्ठा मिली और पंजाब अंग की ठुमरी को शास्त्रीय संगीत में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

बड़े गुलाम अली खां पंजाब की ठुमरी के मसीहा हुये जिनकी गायकी और ठुमरी रचनायें अमर हो गई। इन्होंने अपनी गायकी की प्रतिभा से ठुमरी को सौन्दर्य और प्रतिष्ठा दिलाई। बाजू बन्द खुल-खुल जाये, तथा रस के भरे तोरे नैन आदि भावपूर्ण तथा रसीली रचनायें देश के कोने कोने में लोकप्रिय हो गई। फिल्म मुगले आजम में गाई दो ठुमरियां 'प्रेम जोगन बन जाऊ' तथा याद पियां की आए ये दो रचनायें अमर हो गई। इसी प्रकार इनके भाई बरकत अली खां ने भी इस ठुमरी को लोकप्रियता दिलाई। पंजाब की इलाही जान भी इस गायकी के लिये प्रसिद्ध हुई। पंजाब अंग की गायकी को गाते हुये शाम चौरासी घराने के उ. सलामत अली व उस्ताद नजाकत अली ने संगीत की बुलंदियों को छू लिया।

पंजाब अंग की ठुमरियों की प्रसिद्धि व लोकप्रियता का कारण यह भी रहा कि यहाँ के कलाकारों में संगीत के मुख्य उद्देश्य भाव की व्यंजना रही। यहाँ तक कि उनकी गायकी रागदारी के नियमों से भी स्वतन्त्र हो गया। स्वरों की सुन्दर और विचित्र लड़ियाँ बनाना, तीनों सप्तकों में तानबाजी या बोल तान का प्रयोग करना, विवादी अथवा वर्जित स्वर का भी सुन्दर और आकर्षक प्रयोग करना एक स्वर के बाद दूसरे स्वर का अर्थात स्वर के दोनों रूपों का एक साथ प्रयोग करना तथा गायकी को कलात्मक व चमत्कारपूर्ण रूप से आकर्षक बनाना, इन सब गुणों के समावेश से पंजाब अंग की ठुमरी को आशातीत प्रसिद्धि व सफलता मिली।

आज के युग में पंजाब अंग की ठुमरी मनोहारी, मनमोहक, चित्ताकर्षक, हृदयस्पर्शी तथा आनन्ददायक गायन शैली के रूप में स्थापित हो चुकी है और यह शैली शास्त्रीय संगीत का एक अभिन्न अंग बन चुकी है। इसने संगीत प्रेमियों के मन में एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। थोड़े से समय में पंजाब के कुशल कलाकारों ने इसे संबारकर इस शैली को बुलंदियों पर पहुँचा दिया है। इस अल्हड़ चंचल, चपल, द्रुतलय युक्त तथा अत्यन्त भावुक गायकी को सुनकर श्रोता स्वपनिल सुख से अभिभूत होकर रोमांचित हो उठता है। आज के युग में इस गायकी का पंजाब अंग लोक धुनों के घरातल से उठ कर व्यावसयिक क्षेत्रों पर भी छा गया है। आज फिल्मी संगीत को देखने से पता चलता है पंजाब अंग फिल्मी गीतों में अपनी पहचान बना चुका है। पंजाब अंग को लेकर पद्मश्री हंस राज हंस, गुरदास मान सरदूल सिकंदर, मीका सिंह, जस्सी आदि अनेकानेक पंजाबी गायक व्याससायिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान कर रहे है। गजल गायक गुलाम अली पंजाब अंग का प्रतिनिधित्व करते हुये अत्यन्त प्रसिद्ध हुये हैं।

संगीत का सौन्दर्य सिद्धांत

डॉ. रेखा कुमारी

संगीत का सौन्दर्य सिद्धान्त वास्तव में राग का सौन्दर्य सिद्धान्त है। राग में भारतीय संगीत की सभी सौन्दर्य धारणाएँ समा गया है। राग प्रस्तुतीकरण कलाकृति है और रागानुभूति श्रोता द्वारा प्राप्त आस्वाद है। इसके कलाकारों, गायकों तथा वादकों में कुछ सामान्य गुण निश्चित रूप से होने चाहिए। संगीत कला को प्रभावशाली बनाने के लिए कलाकार के गुण अवगुणों की चर्चा प्रायः सभी शास्त्रों में मिलती है। राग प्रस्तुतीकरण में अर्थात् संगीत प्रदर्शन में गायकों के गुणों का महत्त्व अक्षुण्ण है। संगीत कला का समग्र सौन्दर्य संगीतज्ञ के गुणों पर ही आश्रित है। स्थूल रूप से संगीत सौन्दर्य के लिए निम्नलिखित बातें अत्यंत आवश्यक हैं।

1. सरस तथा मधुर कंठ - तीनों सप्तकों में चित्तरंजक तथा सुंदर गायन
2. उचित संगीत साधना - अर्थात् नियमित रूप से साधना करने वाला।
3. स्वर लगाव - स्वर का सही स्थान पर उच्चारण करने में सक्षम, स्वर श्रुति के स्थान को निश्चित रूप से जानने वाला तथा उनके उच्चारण में सत्वधान समग्र गायन का सुंदर प्रस्तुतीकरण एक क्रियात्मक पक्ष है और क्रियात्मक पक्ष के लिए राग संगीत में आवाज के लगाव का अत्यंत महत्व हैं राग का स्वरूप आलाप में ही अभिव्यक्त होता है। आलाप चारी में स्वरों का विशिष्ट लगाव, श्रुतियों की छाया तथा स्पर्श, गमक स्थायों का प्रयोग ठहाराव, विश्रांति, गति, भावुकता, कोमलता आदि महत्वपूर्ण है और राग के सुंदर प्रस्तुतीकरण के लिए आवश्यक हैं
4. समय और श्रोता के अनुसार राग का चुनाव।
5. सुरीले वाद्य।
6. रचना आकर्षक होनी चाहिए।
7. गीत के शब्दों में गेयता।
8. साध्य स्वरों का सही होना चाहिए।
9. शब्दों की भरमार नहीं होनी चाहिए।
10. रचना छंदों के अनुकूल होना चाहिए।
11. रचना प्रकाशक स्वरों का उचित प्रयोग करना चाहिए।
12. उचित स्थान पर गति भी सम होना चाहिए।
13. दीर्घ और हस्व स्वरों का उचित प्रयोग।
14. स्थायी अंतरों का उचित संबंध, राग के नियमों का पालन।
15. कंठ की प्रकृति के अनुसार राग की बंदिश या गायन सीमा होनी चाहिए।
16. नाद की तारता, तीव्रता, जाति पर विशेष ध्यान देना चाहिए।
17. कलाकार को अपनी वेशभूषा पर भी ध्यान देना चाहिए।

गायक के कंठ गुणों का यथा स्थान प्रयोग राग काकु तथा राग भाव को अभिव्यक्ति करने के लिए किया जा सकता है। हम विभिन्न कलाकारों के सुंदर प्रस्तुतीकरण के आधार पर यह निर्धारित कर सकते हैं कि एक सफल संगीत प्रस्तुती में कौन-कौन गुण होने चाहिए। इन सब में प्रमुख स्थान है माधुर्य का अर्थात् राग की भावपूर्ण अभिव्यक्ति जो श्रोता के मर्म को स्पर्श करे। हमारे कलाकारों को सौन्दर्य तत्त्वों का अपनी प्रस्तुति में ध्यान रखना चाहिए।

पूर्व शोध छात्रा, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि. वि. दरभंगा

परंपरागत ढंग से राग की शुद्धता कायम रखते हुए सौन्दर्य पूर्ण प्रस्तुति ही संगीत कला का लक्ष्य है। खुली गंभीर आवाज, गूँज माधुर्य अलंकरण, आवाज का सुन्दर लगाव, सौन्दर्य चेतना सूझबूझ आदि सौन्दर्य के प्रमुख तत्व हैं कुछ अन्य आवश्यक बातों में कला प्रदर्शन से पूर्व वाद्य का सही मिलना, फिर राग का विविध प्रारंभ, बैठने का सही ढंग, लय ताल का सामंजस्य, बंदिश में उपज अंग, आलाप तान, लयकारी के बाद सम का प्रदर्शन प्रभावकारी होना चाहिए। राग बढ़त में स्वर श्रुति की प्रकृति के अनुसार करना राग रूप की शुद्ध अभिव्यंजना के लिए आवश्यक है।

राग प्रस्तुतीकरण यथा समय निर्धारित समय पर किया जाये तो वह अधिक रूचिकर हृदयगाह्य और सुंदर प्रतीत होता है। विशिष्ट राग विशिष्ट ऋतु तथा समय पर अधिक प्रभाव देता है, यह निर्धारित समय का पालन सूक्ष्म सौदर्य भावना का ही परिणाम हैं संगीत ग्रंथों में भी रागों के यथा समय गाने का निर्देश मिलता है। यह सत्य है कि अमुक समय में अमुक स्वर अधिक रंजक प्रतीत होते हें। इसीलिये संगीत सौन्दर्य के लिए नियम समय पर गायन वादन का महत्त्व है।

संगीत के संबध में जो भी संगीत द्वारा आनंद की प्राप्ति होती है वह राग-ताल-स्वर-गीत-कविता के अर्थ आदि से निर्धारित होती है। संगीत के बहुत से अवयव है, जिनके द्वारा संगीत की मधुरता, सुन्दरता उत्पन्न की जा सकती है और ये आधुनिक समय के अनुसार सागीतिक सौन्दर्य के सिद्धांत कहे जा सकते हैं।[1] उनमें से कुछ विशेष महत्त्व के हैं जैसे-

1. **स्वरों की शुद्धता (Purity of Notes)** - स्वरों के शुद्ध और उचित स्थान ओर उनका उचित प्राबल्य और उच्चारण।
2. **तालों का सही प्रयोग (Correctness of Tal)**- तालों का सही लय, बोल और उनका उचित प्राबलय छंद इत्यादि।
3. **सांगीतिक रचना का व्यवस्थित विस्तार** (Methodical development of musical composition)
4. संगीत की रचना के रस के अनुसार आलाप और तान का प्रयोग (Alap and Tans of harmonus asa and in proper porpartation to the main musical composition)
5. उचित और मधुर कंठ का निकास (Suitable and pleasant voice production)
6. संगीत के अलंकार (Musical Embellishment) जैसे कण, मीड, खटका, कंपन, अल्पतव, बहुत्व, आविर्भाव, तिरोभाव, न्यास, अपन्यास का उचित प्रयोग उचित मात्रा एवं उचित स्थान पर प्रयोग अर्थात् इनके प्रयोग से संगीत का सौन्दर्य तथा मधुरता बढ़नी चाहिए। यदि कहीं भी उपर्युक्त अलंकृत विशेषताओं का प्रयोग अधिक मात्रा में हो जाये अथवा अनुचित सीान पर हो जाय तो वह मधुरता में बाधक न हो। इनका आधुनिक सम्मिश्रण होना चाहिए।

   7. कलाकार और श्रोताओं के लिए उचित वातावरण (Relayed and congenial atmoshphere of the environment for both musician and listener) जैसे हल्की रौशनी, चिकनी दीवारों सुगंध आदि।
8. सही अनुपात में प्रस्तुतीकरण (Balanced and proportionate music and its value by the accompanying instruments and their other accompanists.)
9. सुन्दर और सही विश्रांति के स्थान (Pleasant and accurate resting places)

किसी भी संगीत कार्यक्रम अथवा संगीत का आनंद लेने के लिए तीन वस्तुएँ महत्त्व रखती है।[2]

1. स्वर प्रसारण एवं तारत्व (Transmissans of singer and high pitchness)
2. माध्यम (Medium) : अर्थात् कलाकार के गले की आवाज अच्छी है या खराब यदि माईक्रोफोन या ध्वनि विस्तारक है तो वह कितना अच्छा काम कर रहा है और जो संगीत उससे उत्पन्न हो रहा है वह अन्य नादों के कारण उस संगीत को कितनी हानि पहुँच रहा हैं उचित प्रतिध्वनि से (अनुरणन) से गायन के स्वर को कितना सहारा मिल रहा है।

3. श्रोता (Receiver) श्रोता कितने ध्यान से उस संगीत को सुनकर उसका आनंद लेना चाह रहा हैं

कुछ बातें ऐसी है जो गायक एवं श्रोता दोनों पर प्रभाव डालती है क्योंकि यह आवश्यक है कि गायक तथा श्रोता पूर्ण का रूप से एकाग्रचित होकर गायन अथवा श्रवण करें। इन बातों को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

1. गायक तथा श्रोता के मन के अन्दर की स्थिति (मनःस्थिति) (Internal Factors)
2. गायक या श्रोता के बाह्य मन पर प्रभाव (External factors) मनःस्थिति को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(प) मानिसक (Psychological factors)

(पप) शारीरिक (Physiological factors)

मानसिक स्थिति में पुरानी यादें पुरानों संबंध, यादगार, भावनाएँ तथा मन के सांगीतिक संस्कार।

शारीरिक स्थिति में आयु, शारीरिक संरचना, घराने की परंपरा, रक्तचाप, हृदय गति, माँस-पेंशियों तथा नाड़ियों की स्थिति शारीरिक गति।

बाहर की स्थितियों अथवा वातावरण की स्थिति का प्रभाव विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क में जाता है और पूर्ण संगीत के प्रदर्शन और उसके आनंद में योगदान देता है या बाधा पहुँचाता है।

राग प्रस्तुतीकरण कलाकृति है और रागानुभूति श्रोता द्वारा प्राप्त आनंद है। गायक या वादक के मन में राग का सूक्ष्म सौन्दर्य अमूर्त रूप में विद्यमान होता है और राग प्रस्तुतीकरण में राग सौन्दर्य का सृष्टि और अभिव्यक्ति होती है।

राग प्रस्तुतीकरण में स्थूल रचना ही सौन्दर्य सृष्टि है और रचना सौदर्य सृष्टा द्वारा यानि गायक या वादक में संपूर्ण रूप से जुड़ी रहती है, यह राग प्रस्तुतीकरण किसी भी क्षण गायन के अंतर्मन से अलग नहीं हो सकता।

संदर्भ :-

1. शर्मा स्वतंत्र (प्रो.), सौन्दर्य, रस एवं संगीत, पृष्ठ-125
2. शर्मा प्रेमलता, रस सिद्धांतः मूल शाखा, पल्लव और पतझड़, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज दिल्ली, पृष्ठ-107

मूर्च्छना के संदर्भ में राग यमन के सम्भावित तान प्रस्तार,

डॉ. विवेक वर्मा

भारतीय शास्त्रीय संगीत में मूर्च्छना का महत्व अत्यन्त विशिष्टि रहा है। रागों के निर्माण में, उनके विकास तथा सम्वर्धन में इसकी भूमिका अग्रगण्य रही है। ठाठ या मेल पद्धति से पूर्व मूर्च्छना पद्धति का वर्गीकरण प्रचलन में रहा है। मूर्च्छना पद्धति ऐसी पद्धति रही है जिसने रागों के निर्माण में वैज्ञानिक रीति से एक अमूल्य सूत्र का प्रतिपादन किया है! मूर्च्छना द्वारा ही अनेकानेक रागों के अस्तित्व का ज्ञान हुआ जिससे हमारी रागदारी-परम्परा अत्यन्त समृद्ध हुई।

लक्ष्य संगीत में मूर्च्छना की अवधारणा को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है- ''क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चार वरोहणम्। मूर्छनेत्युच्यते लक्ष्ये सैवस्याद्राग जन्म भू।'' अर्थात सात स्वरों का आरोहण व अवरोहण मूर्छना कहलाती है। यह मूर्छना रागों के जन्म की भूमि अथवा कारक होती है! अर्थात यह स्पष्ट लिखा गया है कि रागों को जन्म देने वाली मूर्च्छना है! इस मूर्च्छना की अवधारणा को अनेक विद्वानो ने इस प्रकार स्पष्ट किया है:-

1. संगीत में केवल आरोही क्रम तक चलनेवाली तान कहलाती है परन्तु स्वर समुदाय का आरोही तथा दोनों क्रम मूर्च्छना कहलाती है!

2. स्वरों का क्रमिक अवरोह मूर्च्छना हैं और आरोह तान!

3. मूर्च्छना सम्पूर्ण अर्थात सात स्वरों से बनती है परन्तु तान में यह आवश्यक नहीं। तान की विशेषता आरोह से है।

4. सप्तक के स्वरों में जिस स्वर से आरोह और उसी पर समाप्ति हो वो मूर्च्छना कहलाती है। जैसेः-

रे ग मप धानि सां सांनि ध प म ग रे।
ध नि सां रें गं मं पं, पं मं गं रें सां नि ध।

5. श्रुतियों की उतरी हुई अवस्था मूर्च्छना कहलाती है।

6. स्वरों का चमकना या उभरना मूर्च्छना कहलाती है।

7. नाट्य शास्त्र के अनुसार-''अथ मूर्च्छना द्वैग्रामीवयश्चतुर्दश।

वस्तुतः सप्तक के किसी एक स्वर को षड्ज मानकर सम्पूर्ण आरोह-अवरोह करते हुये उसी स्वर पर आना मूर्च्छना है। इसमें विशेष बात यह है कि सप्तक के किसी भी स्वर को षड्ज मानते हुये स्वर अथवा तान के प्रस्तार में नवीन स्वरावलियों का बोध होता है जिससे राग विस्तार में तथा सृजनात्मक स्वरूप में विशेष सहायता मिलती है। मूर्च्छना के इसी गुण से प्रभावित होकर यहाँ राग यमन में कुछ तान के प्रस्तार प्रस्तुत हैं जिनके अभ्यास से राग के विस्तार तथा नवीन रंजक स्वरालियों का निर्माण सम्भव है। यथाः-

(राग यमन में तान के प्रस्तार)
(सभी मध्यम स्वर तीव्र हैं।
सा से प्रारम्भ सात मात्रिक तान

1. सानि़ धनि रेग मेध पमे गरे सा।
2. सानि़ धनि़ रेग मेमे गरे नि़रे सा।
3. सासा नि़ध़ नि़नि़ धनि़ रेरे नि़रे सा।
4. सानि़ रेसा गरे मेग पमे गरे सा।
5. सानि़ रेसा गरे मेग पमे गरे ग।
6. सानि़ धनि़ रेग मेध निध पमे ग।

ए. पी. जे. कॉलेज ऑफ फाइन आर्ट, जलन्धर।

मन्द्र नि से प्रारम्भ सात मात्रिक तान

1. नि़ध़ नि़रे गमे पमे गरे नि़रे सा।
2. नि़ध़ नि़रे गमे धनि धप मेग रेसा।
3. नि़ध़ नि़रे गमे निध पमे गरे सा।
4. नि़ध़ नि़रे गमे धनि धप मेग रेसा।
5. नि़रे गमे रेग मेप मेमे गरे सा।
6. नि़रे -ग रेग -मे गमे गरे सा।
7. नि़रे गमे धनि निध पमे गरे सा।
8. नि़रे नि़ध़ नि़रे गमे पमे गरे सा।
9. नि़रे गमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
10. नि़रे गमे धनि रेंनि धप मेग रेसा।
11. नि़रे गमे रेग मेध पमे गरे सा।
12. नि़रे गमे धनि रेगं रेसां निध प।
13. नि़रे रेग गम मेध धनि निध प।
14. नि़रे ग- रेग -मे गमे निध प।

मन्द्र धैवत से प्रारम्भ सात मात्रिक तान

1. ध़नि़ रेग मेध निध पमे गरे सा।
2. ध़नि़ रे- नि़रे ग- मेग रेग रेसा।
3. ध़नि़ रेग मेध सांनि धप मेग रेसा।
4. ध़नि़ रेग मेध तिरें सांनि धम मेग।
5. ध़ध़ नि़रे गग मेध निध पमे ग।

ऋषभ से प्रारम्भ सात मात्रिक तान

1. रेनि़ ध़नि रेग मेध पमे गरे सा।
2. रेनि़ ध़नि रेसा मेध पमे गरे सा।
3. रेग मेध निसां -नि धम मेग रेसा।
4. रेग मेध निध पमे गरे नि़रे सा।
5. रेग मेध निरें गरें सांनि धय मेग।
6. रेग -रे गमे -ग मेध -मे प।
7. रेरे गरे मेग पमे धंम मेग रेसा।

गन्धार से प्रारम्भ सात मात्रिक तान

1. गरे नि़ध नि़रे गमे पमे गरे सा।
2. गरे मेग पमे धप निध पमे ग।
3. गग रेसा निध निरे गमे गरे सा।
4. गग रेमे मेग धध पमे गरे सा।
5. गग रेमे मेग निध पमे गरे सा।
6. गमे ध- मेध नि- धनि निध प।
7. गमे धनि सां- निध पमे गरे सा।
8. गमे धनि रेंगं रेंसां निध पमे ग।
9. गमे पग मेय गमे पमे गरे सा।
10. गमे धनि रेंगं रेंगं रेंसां निध पमे ग।

तीव्र मध्यम से प्रारम्भ सात मात्रिक तान

1. मेग रेसा नि़ध़ नि़रे गमे गरे सा।
2. मेग रेसा नि़ध़ नि़रे गमे पमे ग।
3. मेमे गरे सानि़ ध़नि़ रेग मेग रेसा।
4. मेग मेध निसां निध पमे गरे सा।
5. मेग मेध निरें निध पमे गरे सा।
6. मेग मेध निरें गरें सांनि़ धप मेग।
7. मेमे गनि निछ गंगं रेंसा निछ प।
8. मेग मेध मेग मेध निध गमे ग।

पंचम से प्रारम्भ सात मात्रिक तान

1. पमे गरे सानि़ ध़नि़ रेग मेग रेसा।
2. पमे गरे गमे धनि धप मेग रे सा।
3. पमे गरे गमे धनि रांनि धप मेग।
4. पमे गमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
5. पमे गमे धनि रेंनि धप मेग रेसा।
6. पमे गनि धप गरें सांनि धप मेग।
7. पमे गमे धनि रेंगं रेंसां निध प।

धैवत से प्रारम्भ सातमात्रिक तान

1. धनि सांनि धप मेध पमे गरे सा।
2. धप मेग रेसा निध पमे गरे सा।
3. धनि रेंरें सांनि धप मेमे रेग रेसा।
4. धनि रेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।
5. धध निरें गरें सांनि धप मेग रेसा।

निषाद से प्रारम्भ सात मात्रिक तान

1. निध पमे गरे सा नि़ध़ नि़रे सा।
2. निध पमे गरे सा नि़ध़ नि़रे ग।
3. निध पमे गरे सांनि़ ध़नि़ रेग रेसा।
4. निध मेग रेग मेध निध पमे ग।
5. निध मेग रेग मेध निध पमे ग।
6. निध पमे गमे धनि धप मेग रेसा।
7. निध निरें गरें सांनि धप मेग रेसा।
8. निध निरें गरें सांनि धप मेग रेसा।
9. निध धनि निध निनि धप मेग रेसा।
10. निनि धगं गरें सांनि धप मेग रेसा।
11. निनि धनि रेंगं रेंसां निध पमें ग।

तार षड्ज से प्रारम्भ सात मात्रिक तान

1. सांनि धप मेग रेसा नि़ध़ निरे सा।
2. सांनि धप मेग रेसा नि़ध़ नि़रे ग।
3. सांनि धप मेग रेसा नि़ध़ म़ध़ नि़सा।
4. सांनि धम मेग रेसा नि़रे गम प।
5. सांनि धम मेग रेग मेमे गरे सा।
6. सांनि धम मेग रेग मेध पमे ग।
7. सांनि धम मेग रेग मेध निध प।
8. सांनि धम मेग मेध पमे गरे सा।
9. सांनि धप मेध निध पमे गरे सा।
10. सांनि धप मेग निध पमे गरे सा।
11. सांनि धप मेध निरें सांनि धप मेग।
12. सांनि धप मेध निध पमे गरे सा।
13. सांनि धनि रेंरें सांनि धप मेग रेसा।
14. सांनि धनि रेंगं रेंसां निध पमे ग।
15. सांनि धनि रेंगं मेंमें गरें सांनि धप।
16. सारिं सांनि धप मेध पमे गरे सा।
17. सारिं सांनि धप मेग रेग मेध प।
18. सारिं सांनि धप मेध निध पमे ग।
19. सारिं गरिं सांनि धप मेग रेग रेसा।
20. सारिं गरिं सांनि धप मेमे गरे सा।
21. सारिं गरि मेगं रेंसां निध पमे ग।
22. सारिं गरिं मेंगं पंमें गरिं सांनि धप।

2 आठ मात्रिक तान प्रस्तार

मन्द्र निषाद से आरम्भ

1. नि़ध़ नि़रे गरे गमे पमे गरे नि़रे सा।
2. नि़ध़ नि़रे गमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
3. नि़ध़ नि़रे गरे मेरा पम गरे नि़रे सा।
4. नि़ध़ म़ध़ नि़रे गमे पमे गरे नि़रे सा।
5. नि़नि़ ध़नि़ रेरे नि़रे गमे पमे गरे सा।
6. नि़नि़ ध़नि़ रेग मेध निरें निध पमे ग।
7. नि़नि़ ध़नि़ रेग मेध नि़नि़ धम मेग रेसा।
8. नि़ध़ नि़रे गमे धनि रेंगं रेंसां निध प।
9. नि़नि़ धरे रेसा मेमे गरे नि़ध़ नि़रे सा।
10. नि़नि़ ध़ग मरे निनि धप मेग रेग रेसा।

मन्द्र धैवत से आरम्भ आठ मात्रिक तान प्रस्तार

1. ध़नि़ रेग मेध निध पमे गरे नि़रे सा।
2. ध़नि़ रेग मेध निसां निध पमे गरे सा।
3. ध़नि़ रेग मेध निरें सांनि धप मेग रेसा।
4. ध़नि़ रेग मेध निरें गरिं संजि धम मेग।
5. ध़नि़ रे- नि़रे ग- रेग मे- गरे सा।
6. ध़नि़ रेग नि़रे गमे रेग मेमे गरे सा।
7. ध़नि़ रेग नि़रे गमे रेग मेध पमे ग।
8. ध़ध़ नि़रे गमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
9. ध़ध़ नि़रे गमे धनि रेंरें रेंसां निध प।
10. ध़ध़ निरे गमे धनि रेंगं रेंसां निध प।
11. ध़ध़ नि़रे गमे धनि गंगं रेसां निध प।

मध्य षड्ज से आरम्भ आठ मात्रिक तान प्रस्तार

1. सांनि़ ध़नि़ रेग मेध पमे गरे नि़रे सा।
2. सानि़ ध़नि़ रेग मेमे गरे नि़ध़ नि़रे सा।
3. सानि़ ध़नि़ रेग पमे गरे नि़ध़ निरे सां।
4. सानि़ रेसा गरे मेग पमे गरे नि़रे सा।
5. सानि़ ध़नि़ रेग मेध निध पमे गरे सा।
6. सानि़ ध़नि़ रेग मेध निसां निध पमे ग।
7. सानि़ ध़नि़ रेग मेध निरें संजि धप मेग।
8. सानि़ गरे सांनि गरिं सांनि धप मेग रेसा।

ऋषभ से आरम्भ आठ मात्रिक तान प्रस्तार

1. रेरे नि़ध़ नि़रे गमे पमे गरे नि़रे सा।
2. रेग मेध -नि सांनि धप मेग रेग रेसा।
3. रेग मेध निरें सांनि़ ध़प मेग रेग रेसा।
4. रेग मेध निरें गेंरें सांनि धज मेग रेसा।
5. रेरे गग रेसा नि़ध़ नि़रे गमे गरे सा।
6. रेरे सानि़ ध़म़ मे़ध़ नि़रे गमे गरे सा।
7. रेरे गमे धनि गरिं सांनि धप मेग रेसा।
8. रेरे गमे धनि सां- निध पमे गरे सा।
9. रेग मेध निरें मंमं गरिं संजि धप मेग।
10. रेग मेध निरें गंमें पंमें गरिं सांनि धप।
11. रेरे गरे रेग रेरे गमे पमे गरे सा।

गन्धार से आरम्भ आठ मात्रिक तान प्रस्तार

1. गरे सज़ि ध़नि़ रेग मेध पमे गरे सा।
2. गरे गमे धनि सांनि धम मेग रेग रेसा।
3. गरे गमे धनि सारिं संजि धप मेग रेसा।
4. गरे गमे धनि रेंरें सांनि धप मेग रेसा।
5. गरे गमे धनि गरिं सांनि धप मेग रेसा।
6. गरे सांनि़ धप गरे सांनि धप मेग रेसा।
7. गम रेसा निनि धप गंगं रेंसां निध प।

8. गमे धनि रेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।
9. गग मेधा निनि गंगं रेंसां निध पमें ग।
10. गग मध निनि गरिं सांनि धप मेग रेसा।
11. गरे निध गरिं निध पमे गरे नि़रे सा।
12. गग रेनि निध गंगं रेंसां निध पमे ग।

तीव्र मध्यम से आरम्भ आठ मात्रिक तान प्रस्तार

1. मेग रेग रेसा नि़ध़ निरे गमे गरे सा।
2. मेग रेसा नि़ध़ म़ध़ नि़रे गमे गरे सा।
3. मेग रेनि़ ध़नि़ रेग मेध पमे गरे सा।
4. मेग रेसा निध पमे धप मेग रेग रेसा।
5. मेग रेग मेध निध पमे गरे निरे सा।
6. मेग रेग मेध निसां निध पमे गरे सा।
7. मेग रेग मेध निरें सांनि धम मेग रेसा।
8. मेग रेग मेध निरें गरिं सांनि धप मेग।
9. मेग मध निमे निध पमे गरे नि़रे सा।
10. मेग मेध निमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
11. मेमे गग रेसा निनि धप धप मेग रेसा।
12. मेमे गनि निध गंगं रेंसां निध पमे ग।
13. मेग मेध निसां -चि धप मेग रेग रेसा।
14. मेध निरें गं- रेंसां निध पमे गरे सा।
15. मेध निगं रेंसां निध पमे गरे नि़रे सा।
16. मेध निरें गंमें गरिं सांनि धप मेग रेसा।
17. मेमे गनि निध गंगं रेंसां निध पमे ग।

पंचम से आरम्भ आठ मात्रिक तान प्रस्तार

1. पमे गरे सानि ध़नि रेग मेमे गरे सा।
2. पमे गरे सानि ध़नि रेग पमे गरे सा।
3. पमे गरे निध नि़रे गमे पम गरे सा।
4. पमे गरे सा- निध पमे गरे नि़रे सा।
5. पम ग- धप मे- निध पमे गरे सा।
6. पमे गरे गमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
7. पमे गरे गमे धनि रेंनि धप मेग रेसा।
8. पमे गरे गमे धनि रेंगं रेंसां निच प।
9. पमे गध पमे निध सांनि धप मेग रेसा।

धैवत से आरम्भ आठ मात्रिक तान प्रस्तार

1. धनि रेंगं रेंसां निध पमे गरे नि़रे सा।
2. धनि ध- मेध प- गमे ग- रेग रेसा।
3. धनि मेध गमे रेग नि़रे नि़ध़ निरे सा।
4. धध निरें निनि धप मेमे गरे नि़रे सा।
5. धप मेग रेसा निरें सांनि धप मेग रेसा।
6. धनि रेंगं मंमं गरिं सांनि धप मेग रेसा।
7. धनि रेग मंपं मेगं रेंसां निध पमे ग।

निषाद से आरम्भ आठ मात्रिका तान प्रस्तार

1. निरें गरिं सांनिधप मेध पमे गरे सा।
2. निध पमे धप मेग पमे गरे नि़रे सा।
3. निध निरे संनि धप मेग रेसा नि़रे सा।
4. निध निरें गंगं रेसां निध पमे गरे सा।
5. निध निरें गंमं गेरं सांनि धप मेग रेसा।
6. निरे गंमं पंमं गरिं सांनि धप मेग रेसा।

वार षड्ज से आरम्भ आठमात्रिक तान प्रस्तार

1. सांनि धप मेग रेसा नि़ध नि़रे गरे सा।
2. सांनि धप मेग रेग मेध पमे गरे सा।
3. सांनि धप मेग निध पमे गरे नि़रे सा।
4. सांनि धप मेध निरें सांनि धप मेग रेसा।
5. सारिं सांनि धनि रेंगं रेंसां निध पमे ग।
6. सारिं रेसा निनि धनि धप मेग रेग रेसा।

मन्द्र निषाद से आरम्भ नौ मात्रिक तान प्रस्तार

1. निध़ निरे ग- रेग मे- गमे पमे गरे सा।
2. नि़ध़ नि़रे गमे धनि रेंसां निध पमे गरे सा।
3. नि़रे गमे धनि रेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।
4. नि़रे गमे धनि गरिं निरें सांत्ति धप मेग रेसा।
5. नि़नि़ धनि़ रेग मेध निसां निध गरे सा।

षडज से आरम्भ नौ मात्रिक तान प्रस्तार

1. सानि़ ध़नि़ रेग मेध निसां निध पमे गरे सा।
2. सानि़ ध़मे़ धनि रेग मेध निध पमे गरे सा।
3. सानि़ ध़नि़ रेग -मे धनि -ध पमे गरे सा।
4. सानि़ ध़नि़ रेग -मे -ध -नि धम मेग रेसा।
5. सानि़ ध़नि़ रेग -मे -ध -नि धप मेग रेसा।

ऋषभ से आरम्भ नौ मात्रिक तान प्रस्तार

1. रेग रेसा नि़ध़ नि़रे गरे मेग पमे गरे सा।
2. रेग रेसा नि़ध़ नि़रे गमे धप मेग रेग रेसा।
3. रेग रेसा रेग मेध निध पमे धम मेग रेसा।
4. रेग रेसा रंग मेध निसा निध पमे गरे सा।
5. रेग रेसा रेग मेध निरें सानि धम मेग रेसा।
6. रेग रेसा रेग मेध निरें सांनि धम मेग रेसा।

7. रेरे गमे धनि रेंगं रेंसां नि़ध पमे गरे सा।
8. रेग मेध निरें गंमें गरें सांनिं धप मेग रेसा।
9. रेरे गनि निध गंगं रेंसां निध पमें गरे सा।

गंधार से आरम्भ नौ मात्रिक तान प्रस्तार

1. गरे सानि़ ध़नि़ रेग मेध निध पमे गरे सा।
2. गरे नि़ध़ नि़रे गमे छानि सांनि धप मेग रेसा।
3. गरे मेग पमे धप निध सांनि धप मेग रेसा।
4. गमे धनि रेंसां निध पमे निध पमे गरे सा।
5. गमे धमे धनि रेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।
6. गमे धनि रेंगं मेंगं रेंसा निध पमे गरे सा।
7. गग रे नि निध गंगं रेंसां निध पमे गरे सा।

मध्यम से आरम्भ नौ मात्रिक तान प्रस्तार

1. मेग रेसा नि़ध़ निरे गरे मेंग पमे गरे सा।
2. मेमे गरे गग रेसा नि़सां निनि धप मेग रेसा।
3. मेग मेध निसां निध निसां निध पमे गरे सा।
4. मेग मेध मेग मेध निमे गमे धमे गरे सा।
5. मेमे गग रेसा निनि धध पप मेमे गग रेसा।
6. मेमे गनि निध गंगं रेंरें सांनि धप मेग रेसा।
7. मेग रेग मेध निरें गरें सांनि धप मेग रेसा।
8. मेमे गमे ग- निनि धनि रें- सांनि धप मेग रेसा।
9. मेग रेग मेध निरें निध पम गरे नि़रे सा।

पंचम से आरम्भ नौ मात्रिक तान प्रस्तार

1. पमे गरे सानि़ ध़नि़ रेग मेध पमे गरे सा।
2. पमे गेर नि़रे गमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
3. पमे गमे धनि रेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।
4. पमे गनि धप गरें सांनि धप मेग रेग रेसा।
5. पमे गध पमे निध पसां निध पमे गरे सा।
6. पसां निसां निरें रेंसां निसां निध पमे गरे सा।

धैवत से आरम्भ नौ मात्रिक तान प्रस्तार

1. धप मेग रेसा निध पमे गरे नि़ध़ नि़रे सा।
2. धप मेग रेसा नि़ध नि़रे गमे पमे गरे सा।
3. धध पमे गरे सानि़ ध़नि़ रोग मेमे गरे सा।
4. धध पम गमे धनि सांनि धनि धप मेग रेसा।
5. धप मेग रेसा निनि धप सांनि धप मेग रेसा।
6. धध मेध निध निरें गरें सांनि धप मेग रेसा।
7. धध निध निनि रेंगं रेरें सांनि धप मेग रेसा।
8. धनि रेंगं मेंगं रेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।
9. धनि रेंगं मेंपं मेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।

नषाद से आरम्भ नौ मात्रिक तान प्रस्तार

1. निरें गरें सांनि धप निध पमे धप मेग रेसा।
2. निध पम गरे गमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
3. निनि धप धध पमे पप मेग मेमे गरे सा।
4. निरें गरें सांनि धप मेग रेग पमे गरे सा।
5. निरें गंमें गरें गंमें गरें सांनि धप मेग रेसा।
6. निरे गंमं -पं -में गरें सांनि धप मेग रेसा।

तार षड्ज से आरम्भ नौ मात्रिक तान प्रस्तार

1. सांनि धप मेग निनि धप मेग मेमे गग रेसा।
2. सांनि धप मेग रेग मेध निध पमे गरे सा।
3. सारे सांनि धप निनि धप धध पमे गरे सा।
4. सांनि धनि रेंगं रेंसां निरें सांनि धप मेग रेसा।

षड्ज से आरंभ दस मात्रिक प्रस्तार

1. सानि़ ध़नि़ रेग मेध निरें गरें सांनि धप मेग रेसा।
2. सानि़ ध़रे सानि़ गरे सामे गरे पमे गरे नि़रे सा।
3. सानि़ ध़नि़ रेग मेध मेध निसां निध पमे गरे सा।
4. सानि़ ध़नि़ रेग मेध निरें निध निध पमे गरे सा।
5. सांनि़ धग रेसा निध पगं रेंसां निध पमे गरे सा।

ऋषभ से आरम्भ दस मात्रिक तान प्रस्तार

1. रेरे सानि़ ध़नि़ रेग मेध निरें सांनि धप मेग रेसा।
2. रेग रेसा नि़ध़ नि़रे गमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
3. रेग -रे गमे -ग मेध निसां निध पमे गरे सा।
4. रेग मेध निरें गंमें गरें सांनि धप मेग रेग रेसा।
5. रेग मेध निरें गमे पंमं गरें सांनि धप मेग रेसा।

गन्धार से आरम्भ दस मात्रिक तान प्रस्तार

1. गरे सानि़ ध़नि़ रेग मेध निरें सांनि धप मेग रेसा।
2. गरे नि़ध़ नि़रे गमे धनि रेंसां निध पमे गरे सा।
3. गरे मेग पमे धप निध सांनि रेंसां निध पमे ग।
5. गग रेसा निनि धप गंगं रेंसां निनि धप मेग रेसा।
6. गमे धनि रेंगं मेंपं मेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।

मध्यम से आरम्भ दस मात्रिक तान प्रस्तार

1. मंग रेसा नि़ध़ नि़रे गमे धनि सांनि धप मेग रेसा।
2. मेग रेग मेध निरें सांनि धप निध पमे गरे सा।
3. मेग मेध निसां निध पमे गरे नि़ध़ निरे गरे सा।
4. मेग मेध निरें सांनि धप निध पमे धप मेग रेसा।

5. मेग मेध मेग मेध निमे गमे गमे धनि धप मेग रेसा।

पंचम से आरम्भ दस मात्रिक तान प्रस्तार

1. पमे गरे सानि़ धानि रेग मेध निध पमे गरे सा।
2. पमे गमे धनि रेंग रेंसां निध पमे गरे निरे सा।
3. पमे धप निध सांनि़ रेंसां गरें सांनि धप मेग रेसा।
4. पप मेग निनि धप गंगं रेंसां निनि धप मेग रेसा।
5. पमे पसां -नि -रें सांनि धप मेग रेग रेग रेसा।

धैवत से आरम्भ दस मात्रिक तान प्रस्तार

1. धप मेग रेसा नि़ध निरे गरे मेग पमे गरे सा।
2. धप मेग रेसा निध ममे गसां -नि धप मेग।
3. धध मेध निनि धनि सांसां निध निध पमे गरे सा।
4. धनि रेंगं गरें सांनि धनि निध मेध पमे गरे सा।
5. धध निरे सांनि धप मेग निध पमे धप मेग रेसा।

निषाद से प्रारम्भ दस मात्रिक तान प्रस्तार

1. निनि ध- प- मे- ग- रे नि़ध़ नि़रे गरे सा।
2. निध पमे गरे धम मेग रेग पमे गरे नि़रे सा।
3. निनि रेध निरें धनि रेंगं गरि सांनि धप मेग रेसा।
4. निनि धप मेग रेसा नि़ध़ निरे गम पमे गरे सा।
5. निनि धप मेग रेसा -ग रेसां निध पमे गरे सा।
6. निनि धनि निध गंगं रेंगं गरें सांनि धप मेग रेसा।

तार षडज से प्रारम्भ दस मात्रिक तान प्रस्तार

1. सांनि धनि धप मेध पमे गमे पमे गेर नि़रे सा।
2. सांसां निध पमे गरे निनि धध पमे गरे नि़रे सा।
3. सांसां निध पमे निनि धप मेग धध पमे गरे सा।
4. सारें सांनि धप निध पमे धप मेग पमे गरे सा।
5. सारे रेंसां निध निसां सांनि धप धनि निध पमे प।

ग्यारह मात्रिक तान प्रस्तार
सन्दु धैवत से आरम्भ

1. -ध -नि रेग मेध निरें गरें सांनि धप मेग रेग रेसा।
2. ध़ध़ नि़ध़ नि़नि़ ध़नि़ रेरे गग रेग मेमे गरे सा।
3. ध़ध़ नि़रे गमे धनि सांनि धम मेग रेसा नि़ध़ नि़रे सा।
4. ध़ध़ नि़रे गमे धनि सांनि धम निध पमे धप मेग रेसा।
5. ध़ध़ निरे गमे धनि रेंरें निध निनि धप धप मेग रेसा।
6. ध़नि़ रे- नि़रे ग- रेग -ग गमे -मे पमे गरे सा।
7. ध़नि़ रेग मेध निरें सांनि धप मेग निध पमे गरे सा।
8. धनि -नि नि़रे -रे रेग -ग गमे -मे पमे गरे सा।
9. ध़नि़ रेग मेध निरें गंमें मेंगें रेंसां निध पमे गरे सा।
10. धनि रेग मेध निरें गंमें पंमें गरें सांनि धप मेग रेसा।

मन्दु निषाद से आरम्भ ग्यारह मात्रिक तान प्रस्तार

1. नि़ध़ नि़रे गमे धनि सांनि धप मेग रेग पमे गरे सा।
2. नि़ध़ नि़रे ग- रेग मे- गमे प- मेध पमे गरे सा।
3. निरे गमे धनि सांनि धप निध पमे धप मेग रेग रेसा।
4. नि़रे -रे रेग -ग गमे -मे मेध निध पमे गरे सा।
5. नि़रे गमे धनि रेंगं मेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।

षडज से आरम्भ ग्यारह मात्रिक तान प्रस्तार

1. सानि़ ध़नि़ रेग मेध निरें गरें सांनि धप मेग रेग रेसा।
2. सानि़ रेसा गरे मेग पमे धप निध सांनि धप मेग रेसा।
3. सानि़ ध़नि़ रेरे निरे गग रेग मेमे गमे पमे गरे सा।
4. सानि़ ध़नि़ रेग मेध निरें गंमें गरें सांनि धप मेग रेसा।

ऋषभ से प्रारम्भ ग्यारह मात्रिक तान प्रस्तार

1. रेरे सानि़ ध़नि़ रेग मेमे गमे धनि निध पमे गरे सा।
2. रेरे सानि़ धनि़ रेग मेध निसा निध पमे गरे नि़रे सा।
3. रेग रेसा निध नि़रे ग- रेग मे7 गमे पमे गरे सा।
4. रेग रेग निध निध रेंगं रेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।
5. रेग मेध गमे धनि मेध निरें गरें सांनि धप मेग रेसा।

6. रेग मेध निरें गरें सांनि धप निध पमे धप मेग रेसा।
7. रेरे गमे धनि रेंगं गरें सांनि धप मेध पमे गरे सा।

गन्धार से प्रारम्भ ग्यारह मात्रिक तान प्रस्तार

1. गरे सानि़ धनि़ रेग मेमे गरे गमे धनि धप मेग रेसा।
2. गरे सानि़ धनि़ रेग मेमे गरे गमे धनि निध पमे ग।
3. गग मेध निनि धप धध पमे मग मेमे गरे सा।
4. गग रेनि निध गंगं रेंसां निध पमे गरे नि़ध़ निरे सा।
5. गमे धनि रेंगं रेंसां निध पमे गरे निध पमे गरे सा।
6. गमे धनि रेंगं मेंपं मेंगं रेंसां निध पमे गरे नि़रे सा।

तीव्र मध्यम से आरम्भ ग्यारह मात्रिक तान प्रस्तार

1. मेमे गरे सा- निनि धध पप मेमे गरे नि़ध़ निरे सा।
2. मेग रेस नि़ध़ नि़रे गमे धनि सांनि धप मेग रेग रेसा।
3. मेग रेसा नि़ध नि़रे गमे धप मेग रेग रेसा।
4. मेध निरें गरें सांनि धप निध पमे गरे पमे गरे सा।
5. मध निरें गंमं पंमें गरें सांनि धप मेग पमे गरे सा।
6. मेमे गग रेसा नि़सा निनि धप धप मेप पेग रेग रेसा।

पंचम से आरम्भ ग्यारह मात्रिक तान प्रस्तार

1. पमे गरे सानि़ धानि़ रेग मेध निरें सांनि धप मेग रेसा।
2. पमे गरे नि़रे गमे धनि रेंगं रेंसां निध पमे गरे सा।
3. पप मेग रेसा निनि धप मेग रेसा निनि धप मेग रेसा।
4. पमे गध पमे निध पगं रेंसां निध पमे गरे नि़रे सा।
5. पमे ग- धम -मे निध प- गरें सांनि धम मेग रेसा।

धैवत से प्रारम्भ ग्यारह मात्रिक तान प्रस्तार

1. धध निनि रेंरें मंगं रेंगं रेंसां निध पमे धप मेग रेसा।
2. धनि रेंगं गरें सांनि धनि निध पम गरे निध निरे सा।
3. धध निनि रेंग मेंपं मेंमें गग रेंरें सांसां निध पमे ग।

निषाद से प्रारम्भ ग्यारह मात्रिक तान प्रस्तार

1. निनि धप धध पमे पप मेग मेमे गरे मेमे गरे सा।
2. निध निरें सांनि धप निध पमे धप मेमे गरे सा।
3. निध निरें गंमें गरें सांनि धप मेग निध पमे गरे सा।
4. निनि धनि रेंरें निरें गंगं रेंगं रेंरें सांनि धप मेग रेसा।

वार षडज से प्रारम्भ ग्यारह मात्रिक तार प्रस्तार

1. सांनि धनि रेंगं गरें सांनि धप रेग पमे गरे सां
2. सांनि धनि रेंगं -गं रेंसां निध पमे गरे नि़ध़ सा।
3. सरि सांनि धप मेध निध निरें गरें सांनि धप मेग रेसा।
4. सारें गरें सांनि धप निध़ पमे धप मेग पमे गरे सा।
5. सारें रेंसां निध निसां सांनि धप धनि निध पमें गरे सा।

राग यमन मे दिये गये उपरोक्त वर्णित तान प्रस्तारों को हर स्वर से लेते हुये साधा जायें तो संगीत साधको को इससे निश्चित रूप से विशेष लाभ होगा।

संगीतर्षि पं0 रामाश्रय झा 'रामरंग' का समाज में सांस्कृतिक योगदान

राजीव कुमार

''शासत्रे अया इति शिक्षा
नयति अनेन इति नीतिः''

जिस पद्धति से समाज को बौद्धिक रूप से अनुशासित होकर दिशा दिखाई जाती हो, वही शिक्षा नीति कहलाती है। यह ऐसी नीति है जिससे सामाजिक पथ प्रकाशित होता है। समाज उस कठिन मार्ग पर आगे बढता है। यह रास्ता काल्पनिक होता है, लेकिन समाज-सम्मत होता है। इस रास्ते में संस्कार होते हैं, जबाबदेही होती है। यहीं पर आत्म-प्रकाश की ज्योति मिलती है, कुछ कर दिखाने एक शैली पल्लवित होती है। इसलिए यह नीति समाज के द्वारा प्रैकालिक स्वीकार्य रही है।

वास्तव में, शिक्षा नीति लागू करना सरकारी काम है लेकिन संस्कारित करना सरकार का काम नहीं है। संस्कार तो समाज देता है। समाज के द्वारा दिखाया गया रास्ता जिस पर अगली पीढ़ी आगे बढ़ती है, तो वह समाज सांस्कृतिक रूप से आगे बढ़ती है, उसमें दिव्यता से बढ़ती है। विलक्षणता पैदा लेती है। यह ऐसा पथ है जिस पर न जरा होती है न मरण होता है। यह अघोषित पूण्य कार्य कहा गया है। इसमें बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाती है कि उसके सम्पूर्ण अस्तित्व का विकास होता है। शिक्षा के विभिन्न आयामों को वह अपने मुताबिक चुनता है और अपने अनुसार एक नया रास्ता गढ़ता है। इसीलिए इसे शिक्षा नीति कहा गया है।

शिक्षा में - शास् $ अच् $ टाप् = शिक्षा

नीति में - नी $ क्तिन् = नीति

व्याकरण के द्वारा यह ऐसा संगहित शब्द है जो एक तरह से सर्व स्वीकार्य है।

हमारे समाज में शिक्षानीति वेद से निर्देशित होती रही है। वेद के कई उपग्रन्थ भी हैं। कुल मिलाकर सबो को वेद ही कहा गया है। वैदिक मार्ग सम्पुष्ट होता है। वेद ज्ञान का ही पर्याय है और उस ज्ञान को पुस्तकार करने का काम जिन्होंने कहा उसे व्यास कहा गया।

संपूर्ण व्याख्या का उद्देश्य भी मात्र एक ही था। समाज को पथ उपलब्ध होते हैं। संस्कार छवि और प्रतिछवि दोनों को बदलता है, ''एक पढ़ा लिखा आदमी पाँच अनपढ़ को शिक्षित कर दे तो उससे एक प्रकार का संस्कार ही है। क्योंकि इससे किसी के हृदयस्थ अंधकार को मिटाया जाता है। यह ऐसा दिव्य प्रकाा है, जिसमें किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं है न ही किसी सहायक की आवश्यकता है। वह व्यक्ति स्वयं निर्णेता होता है। वह कैसे चले सामाजिक क्षति हुए बिना प्रसन्नता-पूर्वक आगे बढ़ा जा सके। सामाजिक यात्रा वंशानुक्रमिक होती है। यह एक ऐसा अघोषित पथ है जो पुरानी पीढ़ी, नई पीढ़ी को अवदानित करती है। नई पीढ़ी इसी को परंपरा मानकर पूर्ण विश्वास के साथ इसी पर आगे बढ़ती है। पूर्वजों द्वारा अपनाये गए मार्ग के प्रति नई पीढ़ी की कोई अवहेलनात्मक प्रवृति नहीं होती क्योंकि उसे पूर्व विश्वास है कि उसके पूर्वज गलत मार्ग पर नहीं थे। इसीलिए यह पारंपरिक शिक्षा नीति से अभिहित होता रहा है।

समाज हमेशा प्रवहमान होता है। इसके मार्ग में रूकावट नहीं है। यदि रूकावट आती भी है तो यह अपने स्तर पर पहल करके इस रूकावट को दूर कर देता है। चूँकि सामाजिक गति गातांनुगतिकता को

शोध छात्र, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा।

देखते हुए ही शासन पद्धति में इसे सहयोग करने की एक ऊह पैदा होती है। राजनैतिक रूप से सरकार इसी सामाजिक अवधारणा को सम्पुष्ट करती है। सरकार सामाजिक गतिरोध को दूर करने के लिए राजनैतिक पहल करती है। और इस नीति को समृद्ध बनाने में योगदान देती है। समाज जब बुद्धिमान होता है तो उसके विचार, उसके कलेवर, उसका रहन-सहन धीरे-धीरे परिवर्त्तित होते रहता है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में आते-आते उसका बाह्य स्वरूप बदल सा जाता है। उसका मौलिक रूप भंग नहीं होता। इसी को संस्कार कहा जाता है।

सम् $ कृ $ धयू् = संस्कार

यह सरकार का अवदान नहीं है बल्कि समाज का है। समाज ही इसे सहेजकर रखता है। सरकार का रूख सहयोगात्मक होना चाहिए और समाज का उत्साहवर्द्धक। हमारे संस्कृत वाङ्मय में शिक्षा एक शास्त्र का नाम है। छः शास्त्र में शिक्षा कल्प, निरूप्त, छंद, ज्योतिष और व्याकरण, ये शास्त्र कहे गए हैं। इनमें वर्णित मूल व्यवस्थाओं में बहुत फर्क है।

शिक्षा जीने की कला या तरीका सिखलाती है। कल्प अपने ऊह को विकसित करने का तरीका बतलाता है। निरूप्त- अनुक्त या अघोषित विषय पर निर्णय लेने की क्षमता पल्लवित करता है।

छंद- शास्त्र में चलने का तरीका बतलाता है। ज्योतिष अच्छे - बुरे समयों को दिखाते रहता है। व्याकरण अनगढ़ शैली को एक सुघर आकृति पैदा करता है।

इस तरह छहो शास्त्र का मूल प्रतिपाद्य विषय अलग-अलग है। ऐसा नहीं है कि कोई विषय गेय् नहीं हों। सबकी जानकारी के लिए अलग-अलग पद्धतियाँ हैं। उन पद्धतियों को ही नीति कहा जाता है। इसीलिए नीति निर्धारक समाज होता है और नीतिकारक राष्ट्र , नीति सुधारक समाज होता है और नीतिधारक राष्ट्र।

नीति परिवर्तक समाज होता है और नीति संवाहक राष्ट्र। नीति उत्पादक समाज होता है और नीति संरक्षक ऱाट्र। समाज और राष्ट्र में तालमेल रहने से इस पद्धति का संपोषण होता रहता है। सरकारी नीति और सामाजिक अवधारणा में तालमेल आवश्यक है। सरकारी नीति समाज पर थोपी नहीं जानी चाहिए। बल्कि सामाजिक अवधारणा को ही सामाजिक शिक्षा नीति और सरकारी शिक्षा नीति वगमेल से लगते हैं। इसलिए शिक्षा नीति में कई खामियाँ दिखती हैं। समाज को संभ्रांति में रखकर कोई नई नीति अगर थोपती है तो समाज उसे अस्वीकार कर देता है। प्रकटतः सरकार शब्दों के जाल में समाज को उलझा के अपनी नई नीति लागू करने को तत्पर दिखती है। शिक्षा का पतन शैक्षिक मूल्यों का पतन, मेधा का उत्पीड़न, विद्या का क्रयन-विक्रयन, बुद्धि का कुंठन, समाज का अवगुंठन, ये सभी सरकारी नीति के दोष ही है। उदाहरणार्थ :- मछली पालन, मुर्गी पालन, बकरी पालन, शब्दों को किया जाय, सरकारी नीति का पर्दाफाश हो जाता है। एक भी मछली, मुर्गी या बकरी बच नहीं पाती लेकिन पालन विभाग लिखा जाता है। ठीक उसी प्रकार से सरकारी शिक्षा नीति शिक्षा का अवनयन ही कर रही है उन्नयन नहीं। मेधा खोज, प्रतिभा खोज में प्रतिभाओं का चयन इस अनियमितता से की जाती है। मानो अगली पीढ़ी को मेधा की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वर्तमान् को छोड़कर के कुछ मतलब ही नहीं।

हलाँकि, सरकारी नीति में भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया है, इसीलिए यह नीति दोषपूर्ण हो गई है। इसमें पीढ़ियों का विकास संभव नहीं है, मेधा मर ही जाएगी तो संस्कार कैसे रहेगा। संस्कार नहीं रहेगा तो समाज की छवि धूमिल होगी। देश बीमार पड़ जाएगा। खराब शिक्षा नीति ही राष्ट्र को अल्पायु बना देती है। समाज नित्य माना गया है। इसका मूल्य चिर-प्राचीर और कलेवर नित्य नवीन है।

इसमें मेधा की अवहेलना नहीं है। अकेली मेधा ही समाज को पथ प्रदर्शन के लिए पर्याप्त है। इसलिए मेधा का संरक्षण समाज करता है। सरकार नहीं। सरकार की शिक्षा नीति-विभाजित है सर्वोपयोगी नहीं। सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय जो नीति होती है वो अमर होती है। जिस नीति से कुछ के लिए सुखाय और कुछ के लिए असुखाय हो, वह नीति अकाल मृत्यु को प्राप्त करती है क्योंकि समाज ही नीति में प्राण फूँकता है और नीति समाज में। समाज में परिवर्तन हमेशा होता रहता है और सरकार में भी। वर्तमान में हमारा शासकीय ढ़ाँचा लोकतंत्रात्मक

हो, शिक्षा की दृष्टि से समाज को शिक्षित होना आवश्यक है लेकिन नीति नियंता जनप्रतिनिधि होते हैं। जनता द्वारा चुन के आते है। इसीलिए उन्हें शिक्षित होना जरूरी नहीं माना गया। यह दोषपूर्ण पद्धति है।

अनपढ़ आदमी विद्वतजनों को मार्ग कैसे दिखा सकता है। अज्ञानी रास्ता कैसे दिखा सकता है। इससे एक भटकाव आता है। सामाजिक ठहराव होता है। यह दोषपूर्ण पद्धति बिना जनप्रतिनिधियों को शिक्षित किए सुधार नहीं सकती इसीलिए यह सामाजिक मांग उठने लगी है कि हमारे जनप्रतिनिधि शिक्षित, सभ्य और विवेकशील हो क्योंकि इन्हें नेता कहा गया है।

नेता और नीति का मूल धातु एक ही है, मात्र प्रत्यय में भिन्न है। मूर्ख नेता होगा, तो नीति भी मूर्ख ही होगी। नेता अशिक्षित होगा तो नीति भी अशिक्षा के दायरे से बाहर नहीं जा सकेगी। उसमें कई दोष आ चुके होंगे। ऐसी नीति से समाज का सर्वांगीण विकास न होकर के भेदभाव पूर्ण पद्धति का विकास हो जाता है और समाज पर इसका गहरा असर पड़ता है। समाज इसे स्वीकारता नहीं लेकिन प्रभावित हो जाता है। मेधावियों के चित पर इस पद्धति का बुरा असर पड़ता है। इसलिए इस पद्धति में सबसे पहले नेताओं को शिक्षित करना आवश्यक है। नेताओं को जनता पर विश्वास हो जाता है। जनता उनपर भरोसा करती है। वास्तव में राजनैतिक पथ प्रदर्शक नेता ही होता हे। अतः यदि नेता शिक्षित होंगे तो समाज प्रसन्न रहता है। शिक्षित लोग ही नीति को समझते हैं और लागू करते हैं।

संस्कार की स्वच्छता और पवित्रता बरकरार रखने के लिए समाज प्रयत्नशील रहता है और समाज में ही रहता है और समाज में ही ऐसे नए नए महापुरूष अवतरित होते हैं जो नई दिशा प्रदान करते हैं ऐसे महापुरूष किसी भी क्षेत्र से आते हैं। क्षेत्र वह जीवन के किसी भी प्रकार का हो शिक्षा सबमें अनुस्युत होती है। चाहे वह खेल हो या पर्वताराहण, पठन-पाठन हो या अभिनयन। वह दर्शन हो या ध्यान, वह मौन हो या मुखर, शिक्षा हर जगह है। यह शिक्षा इतनी विस्तृत है कि जन-समान्य के रूप में ही इसका हरेक पल्लव प्रकट होता है। गौर से देखें तो हरेक व्यक्ति में कुछ न कुछ गजब खासियत होती है कुछ विशेषता रहती है जिसे हवक हपजिमक या प्रकृति प्रदत्त गुण कहा जाता है। शिक्षा की उपजाऊ भूमि उसी को माना गया है। इसके साथ जुड़ा हुआ होता है। जैसी पद्धति होती है वैसा संस्कार होता है। जैसे उद्देश्य होता है वैसा संस्कार होता है। कर्म से संस्कार को प्रखर बनाया जाता है। जैसे- एक खिलाड़ी के लिए खेलना कर्म ही नहीं धर्म भी है उसी तरह एक गायक का गाना कर्म ही नहीं धर्म भी है। इस तरह धर्म का दर्शन भी बदल जाता है। लेकिन शिक्षा सबमें व्याप्त है, खेलने में भी और गाने में भी। और ऐसी ही सार्वभौंम शिक्षा नीति की आवश्यकता है जो समाज के हरेक विद्या को अनुप्राणित करें और सुंदर मार्ग प्रशस्त करें।

''यदा-यदाहि धर्मस्य-ग्लानि-र्भवति भारत्
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं स जाम्यहम्।''

इस गीताम त वचन के अनुसार समाज के हर तबके में एक कोई न कोई मार्गदर्शक प्रकट होते रहते हैं और समाज को संस्कारित करते हैं। इसे दैवी गुण कहा जाता हैं। समाज इसे ही महापुरूष की संज्ञा देता है।

ऐसे ही एक महापुरूष संगीत के क्षेत्र में हुए जिन्होंने अपनी रचनाशीलता के जरिये संगीत समाज को एक ऐसी दिशा दी जो सदियों तक इसे आलोकित करता रहेगा। उनका नाम हैः-

पं. श्री रामाश्रय झा 'रामरंग'।

बिहार के मधुबनी जिले के खजुरा ग्राम में एक मैथिल ब्रह्मण परिवार था। पं. सुखदेव झा व उनकी धर्मपत्नी खंजनी झा स्वाभाविक संगीत प्रेमी थे। 11 अगस्त 1928 को उनके घर में एक बच्चे का जन्म हुआ। समप्रेमी परिवार ने इस बच्चे का नाम ''रामाश्रय रखा। यह चाचा पं. श्री मधुसूदन झा तथा श्री अवध पाठक से शिक्षा लेते ही बालक पं. भोलाबाथ भट्ट के संरक्षण में चला गया। लगातार पच्चीस वर्षों तक ध्रुपद धमार, ख्याल, ठुमरी, दादरा, टप्पा इन चार पटों की गायन शिक्षा विधिवत ग्रहण किया। इसी क्रम में स्व. पं. बी. एन. ठाकरे किराना घराने के उस्ताद हबीब खाँ तथा पं. बी. एस. पाठक से भी

संगीत शिक्षा ग्रहण की। 1954 ई. में ये प्रयाग जाकर बस गए। 1995 में अध्यापन कार्य प्रारंभ किये। 1960 ई. में ये प्रयाग संगीत समिति में नियुक्त हो गए। 1968 ई. में इसी के अध्यक्ष बनाए गए। 1989 में ये सेवानिवृत हुए। इस दरम्यान् ये उदारतापूर्वक विद्यादान भी करते रहे। इनकी शिष्य परंपरा बहुत बड़ी है। इनकी लेखन प्रतिभा विलक्षण है। इनकी स्मरण शक्ति प्रखर थी। वे बंदिशों के अप्रतिम रचनाकार थे। लगभग 2000 बंदिशों की रचना की। संगीत के बड़े-बड़े गायक भी इनकी बंदिाों का सम्मान करते है। अभिनव गीतांजलि निर्माण कर के संगीत का क्रियात्मक पक्ष समृद्ध कर दिया।

इसके अतिरिक्त इन्होंने संगीत रामायण नामक अभूतपूर्व ग्रन्थ का प्रणयन किया। गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरित रामायण को आधार मानते हुए प्रत्येक कांड के विभिन्न प्रसंगों को ध्रुपद एवं ख्याल शैली में काव्यबद्ध किया। ऐसी लगभग 500 रचनाएँ हैं जो विभिन्न राग-तालों में लिपिबद्ध है। यह इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी गई है। विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

नए-नए रागों की सृजनात्मकता के क्षेत्र में भी ये बड़े सिद्ध माने गए हैं। इन्होंने कई नए रागों की रचना की जो बहुत ही लोकप्रिय हुए। उदाहरणार्थ मंगल गुजरी, वैदेही, भैरवी, वैरागी, तोड़ी, सरस्वती सारंग, नट नागरी, चंद्र मल्हार, महेन्द्र मल्हार, अंजनी मल्हार, अंजनी कल्याण, केशरी कल्याण, तिलक मल्हार, देव कल्याण, विष्णु कल्याण, राम कल्याण कृष्ण कल्याण, मारूति कल्याण, तीर मुक्ति, रामप्रिया आदि कई दिलचस्प उदाहरण हैं।

ये एक कुशल प्रशासक और आयोजक भी थे। कई संगीत समारोहों का आयोजन भी किया। इन्हें कई पुरस्कार भी प्राप्त हुए। बहुमुखी प्रतिभा संपन्न 'झा' जीवन पर्यन्त संगीत के विभिन्न कार्यों में संलग्न रहकर प्रत्येक दृष्टि से संगीत के मार्ग को एक नई दिशा दे दिया।

ये संगीत के स्वरों को मंत्र मानते थे। ताल और लय को धर्म मानते थे। युगानुरूप सांगीतिक परिवर्तन पर बेवाकी से कहते थे-

समय-समय पर होत है, समय-समय की बात
तब भी कुछ था, कुछ नहीं था,
अब भी कुछ है, कुछ नहीं है।

यह परिवर्तन नैसर्गिक होता है। संगीत का दायरा बढ़ा है, किंतु अभ्यास घटा है। पहले सिद्ध गायक हुआ करते थे। आजकल पार्श्व गायक होते हैं। पहले सिद्ध वादक होते थे अब तकनीकी वादक। पहले गायक गाने में थकते नहीं थे, अब ज्यादा गाते नहीं, बावजूद इसके संगीत बंद कोठरी से निकलकर उन्मुक्त आकाश में पहुँच गया। यह युग-परिवर्तन की देन है। यह संगीत का उत्थान है। पं. झा जी जिज्ञासा, उत्साह और अभ्यास जरूरी मानते थे। ऐसे संगीत के महान ऋषि का देहावसान् 1 जनवरी 2009 को हो गया। रामरंग का राम में लय हो गया। लेकिन इनकी बनाई राह पर सैकड़ों ऐसी मशालें जल रही है जो युगों तक मार्ग दर्शन का काम करेगी। अंत में-

नाद नहिं जानू श्रुति भेद नहिं जानूँ मैं
जानूँ नहिं सप्तक स्वर सात को विकास हूँ।
राग नहिं जानूँ, राग-शास्त्र नहिं जानूँ कछु
जानूँ न आलाप-तान कोटि उनंच्चास हूँ।
आवन गवन मंत्र जानूँ न अलंकार,
लय, ताल, चक्रव्यूह, थोरे से उदास हूँ
सामवेदी विप्र 'रामरंग' ना संगीत ज्ञान
केवल 'संगीतदास' दासन को दास हूँ।

संतूर वाद्य एवम् प्रतिनिधि संतूर वादक पण्ड़ित शिव कुमार शर्मा व पण्डित भजन लाल सोपोरी

प्रियंका शर्मा

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अनेक प्रकार की वीणाओं का वर्णन मिलता है यदि हम तंत्री वाद्यों के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में समस्त वाद्यों को वीणा के नाम से पुकारा जाता था। उदाहणार्थ एकतन्त्री वाली वीणा एकतन्त्री वीणा, तीन तत्रियों वाली त्रितन्त्री वीणा, सात तंत्रियों वाली सप्तन्त्री वीणा सौ तत्रिंयों वाली शततंत्री वीणा, कछुआ के आकार वाली कच्छपी वीणा इत्यादि।

संगीतात्मक ध्वनि अथवा गति को प्रकट करने वाले उपकरण वाद्य कहलाते है विभिन्न वाद्यों द्वारा उत्पन्न स्वर तथा लय को वाद्य संगीत अथवा वादन कहा जाता है हमारे देश में वाद्यों की संख्या इतनी अधिक है कि इनका वर्गीकरण करना आवश्यक है।

हमारे सांगीतिक परम्परा में सहस्त्रों वर्ष पूर्व भी संगीत के वाद्यों का विधिवत वर्गीकरण प्राप्त होता है। वैदिककाल में वाद्यों का वर्गीकरण नहीं मिलता परन्तु चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मिलता है। रामायण तथा महाभारत काल में वादित्र के अन्तर्गत ही तत् अवनद्ध धन तथा सुषिर वाद्य का अन्तर्भाव है पाणिनि की अष्टाध्यायी में वृन्द वादन के लिए तुर्य शब्द का प्रयोग होता है जिसमें सभी वाद्यों का अन्तर्भाव है व्रिणुद्यर्मोतर पुराण के उन्नीसवें अध्याय में तत् सुषिर धन और अवनद्ध चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख किया गया है।

सुषिर वाद्य वे वाद्य होते है जिनमें ध्वनि की उत्पति फूंक या हवा द्वारा होती है वादन क्रिया के आधार पर इनके मुख्य रूप से दो भेद होते है।

1. मुँह से फूंककर बजाए जाने वाल वाद्य वशी मुरली पाविका शहनाई आदि।
2. अन्य किसी साधन से बजने वाले वाद्य हारमोनियम तथा स्वरपेटी आदि।

अवनद्ध वाद्य वे वाद्य हैं जिनमें चमड़ा आदि पर आद्यात से ध्वनि उत्पन्न होती है ये वाद्य ताल के लिए प्रयोग होते हैं।

वादन क्रिया के आधार पर

[1]चमड़े के मुख्य वाद्य इस प्रकार हैं- पटह, मर्दल, हुहुक्क, घट, डक्का भेरी तथा तुम्वकी आदि, वादन क्रिया के आधार इनके पांच उपवर्ग बन सकते हैं। दोनों हाथों के पंजों अथवा उंगलियों से बजाए जाने वाले वाद्य पखावज मृदंगम, तबला, खोल, नाल तथा मादल आदि।

स्वामी प्रजानानन्द के अनुसार भारतीय वाद्यों को चार वर्गो में वर्गीकृत कर सकते हैं। तत् वितत धन तथा सुषिर प्रजानानन्द ने वितत को अवनद्ध के रूप में माना है वर्गीकरण को अधिक विस्तृत करने में प्रो पी साम्बूमूर्ति डॉ लाल मणि मिश्र व डॉ वी. सी देव आदि के नाम उल्लेखनीय है।

तत् वाद्य वे वाद्य होते है जिनमें तारों के द्वारा स्वरों की उत्पति होती है वादन क्रिया के आधार पर तत वाद्यों को चार वर्गों में विभाजित किया जाता है।

1. उँगली से बजाए जाने वाले स्वर मण्डल तथा तम्बूरा आदि।
2. कोण अथवा त्रिकोण से बजाये जाने वाले वाद्य सितार सरोद रूद्र वीणा, विचित्र वीणा तथा

शोध छात्रा, राजा मानसिंह तोमर संगीत वि.वि., ग्वालियर

गोट्ट वाद्यम आदि।

3. गज से रगड़कर बजाए जाने वाले वाद्य सारंगी इसराज दिलरूबा आदि।
4. डण्डी से प्रहार करके बजाए जाने वाले वाद्य सन्तूर तथा कानून आदि

एक हाथ की उंगलियों से बजने वाला वाद्य हुडक, खंजीरा तथा दायरा आदि।

शंक से बजाए जाने वाल वाद्य नगाड़ा धौसा, दमाका तथा डाक आदि।

एक ओर हाथ से तथा एक ओर डण्ड़ी से बजाए जाने वाले वाद्य बड़ा ढ़ोल तथा पटह आदि।

कुण्ड़ी की चोट से बजने वाला वाद्य डमरू तथा डक्का आदि।

घन वाद्यों में कांस्यताल, घंटा क्षुद्रघटिका जयघण्टा, शुक्ति तथा पट्टी आदि प्रमुख है।

वादन क्रिया के आधार पर इनको तीनों वर्गों में बाँटा जा सकता है।

1. दो हिस्सों को परस्पर टकराकर बजाए जाने वाले वाद्य-झांझ मंजीरा, करताल, तथा क्रमिका आदि।
2. डण्ड़ी अथवा लकड़ी या हथौड़ी के प्रहार से बजाने वाले वाद्य घण्टा, जयघण्टा, विजय घंटा, झांझ तथा बड़ी झांझ आदि
3. हाथ हिलाकर बजाए जाने वाले वाद्य-इस उपवर्ग में वे सभी वाद्य आते है जिनमें किसी खोखले पदार्थ के भीतर कंकड़ आदि भरा रहता है-झुनझुना तथा रम्मा आदि।

अनेक संशोधन व परिवर्तन के पश्चात् शततंत्री वीणा ही एक नवीन वाद्य के रूप में हमारे समक्ष आई व कालांतर में यही वाद्य संतूर के नाम से जाना गया। संतूर शब्द दो शब्दों के मेल से बना है सन व तूर सन अर्थात् सौ एवम् तूर अर्थात तत्री इस वाद्य के आविष्कार के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते है [3]श्री गृह तारलेकर ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि प्राचीन काल की शततन्त्री शब्द का अपभ्रंश संतीर या संतूर ऐसा होना सम्भव हैं।

इस वाद्य के सम्बन्ध में प्रसिद्ध संतूर वादक पण्ड़ित शिव कुमार शर्मा ने चर्चा के दौरान कहा कि यह वाद्य शततन्त्री वीणा का ही रूप है क्योंकि आज भी कश्मीर में इस वाद्य में सौ तार लगाये जाते है। उन्होंने इस बात का दृढ़ता के साथ खण्ड़न किया है कि यह वाद्य ईरान से आया है यदि यह वाद्य ईरान से आया होता तो वहाँ भी इस वाद्य में सौ तार लगे होते है किन्तु ईरान में प्रचलित संतूर में केवल 72 तारों का प्रयोग किया जाता है।

[4]अन्य कुछ विद्वानों के अनुसार यह कश्मीर का वाद्य है।

किन्तु ये सर्वमान्य है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयोग होने वाले सतूंर का जन्म कश्मीर के सूफी संगीत में प्रयोग होने वाले संतूर वाद्य से हुआ।

सूफी संगीत में प्रयोग होने वाले संतूरवाद्य में 25 घुड़च के ऊपर सौ तन्त्रियाँ लगी रहती है। एवम् प्रत्येक घुड़च पर रखी चार-चार तन्त्रियाँ एक ही स्वर में मिलाई जाती है किन्तु विव विख्यात संतूर वादक पण्ड़ित शिव कुमार शर्मा अपने सतूंर वाद्य में 31 घुड़च व 91 तन्त्रियों का प्रयोग करते हैं तथा प्रत्येक घुड़च पर रखी तीन-तीन तन्त्रियों को एक ही स्वर में मिलाते है।

महान संतूर वादक पण्ड़ित शिव कुमार शर्मा, पण्ड़ित भजन लाल सोपोरी का नाम प्रमुख है।

पं. शिव कुमार ार्मा का जन्म 13 जनवरी सन् 1938 ई. में हुआ था। पं. जी ने सात वर्ष की आयु में पिता पण्ड़ित उमादत शर्मा से गायन शिक्षा प्राप्त की बाद में कंठ संगीत को छोडकर तबला वादन सीखना आरम्भ किया इसके पश्चात् 13-14 वर्ष की अवस्था तक पिता से संतूर वाद्य की शिक्षा लेनी आरम्भ की।

संतूर को शास्त्रीय संगीत में प्रस्तुत करने के लिए उसके आकार में पण्ड़ित शिव कुमार शर्मा ने अनेक परिवर्तन किये जो इस प्रकार है ।

सबसे पहले पं शिव कुमार शर्मा ने संतूर वाद्य के लिए प्रयुक्त त्रिकोणात्मक स्टैण्ड को हटाकर, उसे अपनी गोद में रखा इसका परिणाम यह हुआ कि जो अतिरिक्त गूँज थी वह समाप्त हो गई ताने एवं झाले के वादन में स्पष्टता आ गई।

ब्रिज पर तारों की व्यवस्था में भी परिवर्तन किया। सूफियाना संतूर में एक ब्रिज पर चार तारे स्थापित थी, परन्तु पं.िव कुमार को इस व्यवस्था से असुविधा का अनुभव हुआ पं. शिव कुमार ने अपनी

प्रयोगधर्मी प्रवृति से यह निष्कर्ष निकाला कि एक ब्रिज पर मध्य एवं तार सप्तक के लिये गिटार की तारों का प्रयोग किया। मन्द सप्तक में एक ब्रिज पर केवल दो तारें ही रखी।

पं. शिव कुमार शर्मा के संतूर में कुल सताईस तारें एवं इकतीस ब्रिज है।[5]

संतूर वाद्य के माध्यम से मींड़ का प्रभाव देने के लिए उन्होंने एक विशेष तकनीक का प्रयोग किया, जिसे टिमैलो कहते है।[6]

महान संतूर पण्ड़ित भजन लाल सोपोरी

पण्डित भजन लाल सोपोरी का जन्म 22 जून सन् 1948 ई. को कश्मीर के सूफियाना घराने के संगीतज्ञ परिवार में हुआ। पण्डित भजन लाल सोपोरी ने संतूर की शिक्षा अपने दादा एस. सी सोपोरी तथा पिता एस. एन सोपोरी जी से ली थी। पण्ड़ित भजन लाल सोपोरी अपने बाज को सोपोरी बाज कहते हैं जिसमें गायकी एवं तंत्रकारी दोनो अंगों का समावेश हैं।

पण्डित भजन सोपोरी ने इस वाद्य के वादन क्षेत्र को बजाकर साढ़े चार सप्तक तक कर दिया है मन्द्र सप्तक में कुछ तारों को बदलकर मींड़ के प्रयोग का प्रयास किया है इसके अतिरिक्त तीन चिकारी के तारों को जोड़ा है जिससे झाले में स्पष्टता आई है तथा चिकारी सितार के समान मधुर स्वर वाली है। उन्होंने बारह तरव की तारों का समावेश किया है। पण्डित भजन लाल सोपोरी ने अपने वाद्य में 43 घुडच व 121 तन्त्रियों का प्रयोग किया है। पण्डित भजन लाल सोपोरी के अनुसार गमक की प्रक्रिया भी संतूर में संभव है इसके लिए कलम को कम्पित करना पड़ता है तथा कलम के अग्रभाग के किनारे का प्रयोग गमक की प्रक्रिया में किया जाता है।

प्रारम्भ में पण्डित शिव कुमार शर्मा व भजन लाल सोपोरी अपने वाद्यों का निर्माण कश्मीर क्षेत्र के उस्ताद मोहम्मद ज़ज़ से करवाते थे। उस्ताद मोहम्मद ज़ज़ संतूर वाद्य के निर्माण हेतु बादाम की लकड़ी का प्रयोग करते है। इन दिनों पण्ड़ित शिव कुमार शर्मा व पण्डित भजन लाल सोपोरी अपने वाद्य का निर्माण वाराणसी के सुविख्यात वाद्य निर्माणकर्ता श्री देवी प्रसाद से करवाते है। श्री देवी प्रसाद सतूंर वाद्य के निर्माण में तून व मेपल की लकड़ी का प्रयोग करते है। संतूर का बक्सा बनाने के लिए ऊपर व नीचे प्लाई का प्रयोग किया जाता है। घुड़च बनाने के लिए शीशम की लकड़ी का प्रयोग करते है आप अपने वाद्य में जर्मन देश में निर्मित तन्त्रियों का प्रयोग करते हैं।

दिल्ली के वाद्य निर्माणकर्ता श्री दलजीत सिंह संतूर बनाने हेतु भारतीय लकड़ी के अतिरिक्त उच्चकोटि की विदेशी लकड़ी का भी प्रयोग करते हैं।

किसी भी सांगीतिक वाद्य पर वातावरण का प्रभाव पूर्णतया परिलक्षित होता है संतूरवाद्य को वातावरण के प्रभाव से सुरक्षित रखने हेतु वादक भिन्न-भिन्न यत्न करते है। उदाहरणार्थ वाद्य को सूती वस्त्र में बाधंना जमीन से कुछ ऊंचाई पर रखना वाद्यों को नमी से बचाना इत्यादि। आधुनिक काल में वाद्य को सुरक्षित रखने हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार के बक्से उपलब्ध है। चमड़े अथवा फोम के बने बक्से वाद्य को बाहरी वातावरण से सुरक्षित रखते है। आज फाइवर के बने बक्से में वाद्य पूर्ण रूप से सुरिक्षत रहता है। इन बक्सों में रखा गया वाद्य न तो बाहरी वातावरण से क्षतिग्रस्त होता है व न ही लगा हल्का फुलका आघात वाद्य को किसी प्रकार की हानि पहुंचाता है। इस प्रकार किसी भी वाद्य की ध्वनि व गुणवत्ता उस वाद्य के निर्माण व रख-रखाव पर अत्यधिक निर्भर करती है।

संदर्भ :-

1. पं. शारंगदेव, संगीत रत्नाकर, वाद्याध्याय श्लोक 4
2. पं. शारंगदेव, संगीत रत्नाकर, वाद्याध्याय श्लोक 15, 16
3. तारलेकर श्री गृह, भारतीय वाधांवा इतिहास पृष्ठ. 84
4. देव श्री. वी. सी, म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेंट ऑफ इण्डिया - पृष्ठ. 146
5. मध्यवती श्री मोहन वाडकर्णी, संगीत पत्रिका, वाद्य वादन अंक हाथरस पृष्ठ. 173
6. शर्मा डॉ. योगिता, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के तंत्री वाद्यों में परिवर्तन एवं प्रवृति पृ. 143
7. रिक्खी स्वर संगभ (स्वं श्री विशनदास शर्मा) के सौजन्य से

तबले की बंदिों में दृष्टिगत प्रभाव का अनुशीलन बनारस घराने का सन्दर्भ में

डॉ. दीपक त्रिपाठी

यह सार्वभौमिक सत्य है कि मानव की सृजनात्मकता या रचनात्मकता पर देशकाल परिस्थिति का प्रभाव अवश्य ही परिलक्षित होता है। साहित्य, संगीत व अन्य कलाओं की रचनात्मकता पर स्थान विशेष के भौगोलिक एवं सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि का विकास अपने चहुँदिशी में फैली हुई प्रकृति की प्रेरणा से ही सम्भव होता है या सम्भव हुआ है। प्रकृति के खजाने में विभिन्न रंग हैं जिनमें कई तरह के अनसुलझे रहस्य है। जिनको निरन्तर शोधपरक दृष्टि से समझा जा सकता है।

प्रो. योगेन्द्र नारायण यादव लिखते है कि ''विकसित चेतना के फलस्वरुप मनुष्य ने अन्य सांसारिक जीवों से अपनी भिन्नता स्पष्ट करके प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न एक नये सौन्दर्यात्मक जगत का निर्माण किया। जो वस्तुतः कला का क्षेत्र था। प्रारम्भिक काल में मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित होकर नवीन सौन्दर्यात्मक सृष्टि की ओर उन्मुख हुआ। कला, दर्शन, ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्र में अज्ञात की सत्ता जिज्ञासा को सदैव जीवन्त रखती है। ज्ञात के बल पर अज्ञात को जानना श्रेष्ठ कला का लक्ष्य है। किसी भी प्रायोगिक कला के प्रस्तुतिकरण का विशिष्ट ढ़ंग उस कला की शैली कहलाता है। कला का प्रायोगिक पक्ष जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परम्परागत रुप में चलता रहता है तो उसका निरन्तर परिष्कार और संस्कार होता रहता है। आगे चलकर वह प्रायोगिक पक्ष परिष्कृत और सुसंस्कृत होकर जन समाज में प्रतिष्ठित हो जाता है।[1]

पं. अनिल बिहारी व्यवहार जी का कथन है, ''कलाओं में सामान्य रुप से जीवन तथा लोक (सम्पूर्ण सृष्टि) का ही अनुकरण होता है। जीवन की घटनाओं से मनुष्य को सुख या दुख की अनुभूति होती है पर इन्हीं घटनाओं अथवा इनके कारण रुप भावों का जब कला के द्वारा प्रस्तुतीकरण होता है तब ये घटनायें और भाव व्यक्तिगत न होकर साधारणीकृत हो जाते है।''[2] आगे अपने विचार को और स्पष्ट करते हुए कलात्मक अभिव्यंजना के सन्दर्भ में कहते है कि ''यूँ तो दृश्य एवं श्रव्य इन दोनों ही प्रकार की कलाकों की अभिव्यंजना के लिए किसी न किसी रुप में देश एवं काल की आवश्यकता होती है। परन्तु दृश्य कलाओं में कलात्मक अभिव्यक्ति का आधार प्रमुख रुप से देश ही होता है। इतना ही नहीं प्रत्येक कलाकृति के अन्तर्गत पायी जाने वाली विविधता भी देश पर ही अवलम्बित रहती है। श्रव्य कलाओं की अभिव्यंजना का आधार काल होता है। क्योंकि श्रवण का विषय ध्वनि है। जिसकी अभिव्यक्ति या अनुभूति काल की क्रमिकता में होती है।''[3] कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम रचनायें या बन्दिशें होती है, जो संगीत की तीनों विधाओं में प्रयोग की जाती है। इनकी रचना में रचनाकार अपने भावों का उद्भावन करता है। जिस पर उसकी कल्पना का परिमाण स्पष्ट दिखायी देता है। कल्पना शक्ति का महत्त्व विज्ञान तथा कला दोनों में है। व्यवहारिक

असि. प्रोफसर, संगीत विभाग, साहू जैन कॉलेज, नजीबाबाद, कममचण्दंकइतंउीं333/हउंपसण्ववउ

जीवन में भी कल्पना का बड़ा हाथ है। कल्पना ही परिकल्पना का आधार बनती है। यह मनुष्य में सम्वेदनशीलता का संचार करती है। कल्पना शक्ति के आधार पूर्वानुभव, विशालता, सहृदयता, दुख को समझने की शक्ति आदि है। यह प्रकृति का तत्त्व है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ घटित होता है वहीं इस काय पिण्ड में भी होता है। ''मानव के हृदय में स्थित अनाहद चक्र बारह पंखड़ियों का है, इससे बारह व्यंजनों की उत्पत्ति हुई है। यथा कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झ, ', टं, ठं। ये बारह पंखुड़ियों से उत्पन्न व्यंजन बारह मात्राओं का बोध करते है। हृदय में स्थित इस चक्र के विषय में गहरायी से अध्ययन, चिन्तन एवं मनन करने से ज्ञात होगा कि ब्रह्माण्ड की लय ही काय पिण्ड में व्याप्त खट चक्रों के रुप में संचालित है।''[4] अतः प्रकृति में जो भी घटित होता है वह मानव शरीर को प्रभावित कर उसके हृदय को उन घटनाओं को सम्प्रेषक बनाता है। जिनसे प्रेरित होकर रचनात्मक बुद्धि नवीन रचनाओं का आधार रखती है और निरन्तर ऐसे प्रयोगों से रचनाओं का विशाल समूह कला जगत को प्राप्त होता है जो रचनाकार को कालजयी भी बना देता है।

कलाओं की सृजनात्मकता को वैज्ञानिक स्तर पर भी समझने की कोशिश करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि इस भू-मण्डल पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की भिन्न-भिन्न भौगोलिक संरचनायें हैं तथा उन सभी क्षेत्रों की भिन्न जलवायु होने से उक्त क्षेत्र की वनस्पति, वहाँ का रहन-सहन स्तर, क्षेत्र का बौद्धिक विकास औद्योगिक विकास, सामाजिक विकास सांस्कृतिक विकास आदि का निर्धारण होता है। पहाड़ों पर जीवन यापन करने वाले मनुष्यों का जीवन मैदानी इलाकों में रहने वाले मनुष्यों की अपेक्षा अधिक श्रम साध्य होता है। जिससे उनकी हर प्रकार की सक्रियता मैदानी क्षेत्रों से भिन्न होती है। जिसका असर उनकी संस्कृति व उनके विचारों पर भी पड़ता है। जो रचनाओं के मुख्य आधार होते है। मनुष्य का जिस संस्कृति के वातावरण में पालन-पोषण होता है उसके विचारों में उस संस्कृति के संस्कारों का पुट प्राप्त होता है। यदि वह रचनात्मक हृदय रखता है तो उसकी रचनाओं में उसके व्यक्तिगत संस्कार या उसकी समूल संस्कृति का स्वरुप अवश्य झलकेगा। यही वैज्ञानिक सत्य है। ''विज्ञान की पहली शर्त ही है कि उसमें जिस ज्ञान की स्थापना हो उसका परीक्षण (Verification) सम्भव होना चाहिए। परीक्षण का करण या साधन है इन्द्रिय और उसके सहायक तत्त्व।''[5]

विषयान्तर्गत बनारस घरानें की बन्दिशों (तबला वाद्य के सन्दर्भ में) पर देश, काल, परिस्थिति के प्रभाव की चर्चा-परिचर्चा उद्देश्य है, जिस हेतु इस पर एक वैज्ञानिक प्रमाण का आधार लेकर निरीक्षण किया जायेगा। बनारस सदैव से ही सांस्कृतिक राजधानी के रुप में जाना गया है। यहाँ अनगिनत कलाकार, शास्त्रकार, रचनाकार आदि हुए है। यहाँ के वातावरण में विद्धजन कई प्रकार की अनुभूतियाँ करते है कोई इसे मस्ती का शहर कहता है, तो कोई अध्यात्म की नगरी, कोई इसे धर्म का विधाता कहता है, तो कोई इसे समस्त विद्याओं की जननी कहता है। खैर कुछ भी कहो इस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति ऐसी है जहाँ की धरती में कला की ऊर्वरता बहुत है। भगवान शिव का जिसे आशीर्वाद प्राप्त है जिसकी गणना पुरातन काल से प्राचीन धर्म नगरियों में होती है। भावतवर्ष के कुछ ही ऐसे नगर हैं जो सम्पूर्ण संस्कृति विशेष के कारण सदियों से अलग पहचान रखते है उनमें से काशी नगरी एक है। काशी का आधुनिक नाम बनारस है जिससे वाराणसी से भी सम्बोधित करते है। इसका इतिहास बहुत प्राचीन है। बनारस घराने के तबले में विभिन्न सांगीतिक संपदाओं का बहुत अधिक प्रभाव दीखता है। जैसा ज्ञात है कि संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन एवं नृत्य का समायोजन किया जाता है और इन तीनों ही विधाओं के प्रमुख अंगों का रचनान्तर्गत प्रभाव देखा जा सकता है, जिनका संक्षिप्त विवेचन निम्नवत् है-

1. ध्रुपद-धमार : कंठ संगीत के अन्तर्गत ध्रुपद की परम्परा बनारस घराने में काफी समय से चली आ रही है। इस धीर-गम्भीर गायन शैली को बनारस में सदैव पूजा गया है। काशी में भाव प्रभा पंख संस्थान की ओर से सन् 1975 में ध्रुपद मेला सर्वप्रथम आयोजित हुआ। जो अपने अभिनव प्रथम प्रयास में अत्यन्त सफल रहा। बाद में इसका आयोजन

में काशी नरेश विद्या मन्दिर न्यास द्वारा हुआ।[6] इस गायन शैली में स्वर, लय, ताल, पद का सामंजस्य रहता है। जिससे यह गायन शैली आधार गायन शैली के रुप में संगीत जगत में जानी पहचानी जाती है। बनारस घराने की विस्तारील रचनाओं में ठेके की बाँट प्रमुख रचना है। जिसकी चलन को विवेचित करते हुए पं. किशोर मिश्र जी ने अपने साक्षात्कार में कहा है ''कि जिस प्रकार ध्रुपद के प्रथम चरणोपरान्त जोड़ालाप की प्रक्रिया को किया जाता है ठीक उसी तरह बनारस घराने के ठेके की चलन में उसी संकल्पना को लेते हुए विस्तार या वर्णों के आलापी करण से प्रस्तुति दी जाती है।''[7]

इसी प्रकार से ध्रुपद में जिस प्रकार से लय का एवं उपज का काम प्रमुखतयः किया जाता है उसकी अवधारणा इस घराने के तबला वादन में सशक्तता से दीख पड़ती है। अतः इस घराने की बन्दिशों में या वादन शैली में ध्रुपद-धमार गायन शैली का प्रभाव रचनान्तर्गत दिखायीं देता है।

2. ख़्याल : आधुनिक संगीत जगत में ख्याल एक सर्वप्रचलित गायन विधा है। जिसमें पद लालित्य, स्वर, लय, तालादि का संयोजन नवीन संकल्पना से किया गया है। संगीत जगत में तबले के अविष्कार का हेतु भी इसी विधा को माना जाता है। क्योंकि यह मुलायम या कोमल गायन शैली है जिसकी संगत हेतु पखावज वाद्य अनुपयुक्त प्रतीत हुआ जिस कारण कोमल नाद वाले वर्णो की अभिव्यंजना करने वाले तबला वाद्य का आविष्कार हुआ।

ख्याल गायन शैली में मुख्यतः बड़ा ख्याल एवं छोटा ख्याल या विलम्बित तथा मध्य या द्रुत ख्याल प्रस्तुत करने की परम्परा है। बड़े ख्याल में ठेके को विलम्बित लय में स्थापित कर गायक कलाकार अपने स्वरों की असीम सोच को प्रदर्शित करता है। तबलाकार जिसके भावों से एकाकार होकर तबले के नादों से गायन प्रस्तुति को उद्दीप्त करता है। जिसमें तबले की गम्भीरता का प्रदर्शन स्पष्टतयः देखा जा सकता है। वही जब मध्य लय या द्रुत लय में छोटे ख्याल की प्रस्तुति होती है तो बन्दिश के भावानुसार तबला वादक ठेके का भराव करते हैं। जिसमें छोटे-छोटे टुकड़े, तिहाईयों आदि का प्रयोग समर्थवान तबला वादक कुशलता से प्रयोग करते हैं। ऐसी संकल्पनाओं को कड़ी-कड़ी जोड़कर तबले का आज यह स्वतन्त्र रूप स्थापित हुआ है। यह इस वाद्य के साधकों, कलामर्मज्ञों, शास्त्रज्ञों, अनुसंधित्सुओं के निरन्तर भगीरथ प्रयास का प्रतिफल है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार से ख्याल तबले के उद्गम का हेतु है उस दृष्टि से बनारस घराने के तबले में भी ख्याल गायन शैली का रचनागत प्रभाव पड़ा।

पखावज- बनारस में ध्रुपद धमार की गायन शैली का प्रचलन होने के कारण पखावज वाद्य की महत्ता यहाँ रही है। संगत के साथ-साथ स्वतन्त्र रूप में भी यह वाद्य यहाँ मुखर रूप से प्रचलित रहा है। अतः तबले का जब यह घराना स्थापित हुआ, तब तक पखावज वाद्य का संगीत जगत् में काफी प्रयोग बढ़ चुका था, साथ ही कलाकारों की उच्चस्तरीय सोच ने पखावज का एक विशालकाय पाठ्यक्रम तैयार कर दिया था; इसलिए तबला-वाद्य जब प्रचार में आया तो उसमें पखावज की समृद्ध भाषा का प्रयोग बहुतायत से हुआ और बनारस में तबले में तो कहा ही जाता है कि पखावज का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। यह छाप बनारस घराने के श्रेष्ठ रचनाकारों के ऊपर भी पड़ी पखावज की बहुत सी ऐसी भाषाएँ जो तबले पर बन्दिष के रूप में बजायी गयी है, बनारस घराने में उन बन्दिशों का प्रचलन आज भी बहुतायत से मिलता है, बन्दिशें जब पखावज की भाषा सौन्दर्य को ध्यान में रखकर तबला वाद्य पर बजायी जाती है तो यह निश्चय ही कलाकार को गौरव प्रदान करती है। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि बनारस घराने की बन्दिशों में पखावज वाद्य का प्रयोग अनुपम रसयोग के साथ हुआ है।

ढोलक

यह मुख्यतः लोकसंगीत के साथ प्रयुक्त होने वाला वाद्य है जो अतिप्राचीन एवं सर्वप्रचलित है। बनारस घराने में ढोलक वाद्य की विशेषताओं का भी अनुसरण किया गया है। बायें के घुमारे का प्रयोग यहां के कलाकार ढोलक के घुमारे को ध्यान में रखकर प्रयोग करते दिखायी देते हैं। खासकर जब ठेका का वादन हो या ठेके की चलन में भी विलम्बित लय में बाये के घुमारे तथा उसके घसीट से नाद सौन्दर्य का

प्रतिपादन किया जाता है। जिसको यहाँ आम भाषा में 'बायां घुलाना' उक्ति से सम्बोधित किया जाता है। बायें का इस प्रकार से प्रयोग श्रृंगार रस आदि की उत्पत्ति में सहायता प्रदान करता है। यहाँ की गत फर्द में भी ऐसे बायें के प्रयोगों का अनुसरण देखा जा सकता है।

धाऽघिड़	नगतेतू	ऽधा	गिन
धाऽ	ऽधा	गिन	तेतू

×

2

गिन	गत	कगि	नग
धिरधिर	किटतक	ताऽतिर	
किटतक			

0

3

उपर्युक्त बन्दिश का वादन करते वक्त 'घिड़नग' तथा 'गिनग तक गिनग' में बायें का प्रयोग घूमारे के साथ करना अत्यन्त आल्हादकारी क्रिया प्रतीत होती है जो श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने में सहायक होती है। अतः स्पष्ट है कि बनारस घराने में ढ़ोलक वाद्य का भी अनुसरण प्रतीत होता है।

नक्कारा

बनारस में लय वाद्यों में सर्वप्रचलित वाद्य नक्कारा है। जिसका प्रचलन यहाँ प्राचीन काल से शहनाई (सुषिर वाद्य) के संगत के रुप में प्रयोग होता रहा है। इस वाद्य की अपनी एक विशेषता व वादन शैली है, जो पारम्परिक संगीत को अभिव्यक्त करने में सहायक सिद्ध होता है। इस वाद्य की खूबियों को यहाँ के तबलाकारों ने प्रयोग कर इस घराने के तबले को एक नया आयाम दिया है। बनारस की प्रसिद्ध बांट- धीक धीना तिरकिट धीना धागे नधी कति नाड़ा, में 'नाड़ा' वर्ण नक्कारे पर बजने वाल सशक्त वर्ण हैं। नक्कारे पर प्रायः बजने वाला बोल समूह 'धातिंनाड़ा धाधिंनाड़ा' तो बनारस के तबले की शान कहा जा सकता है। यहाँ के तबला वादकों ने इसको इतना लोकप्रिय किया है कि उक्ति ही बन गयी है कि बनारस का 'धातिंनाड़ा, धाधिंनाड़ा' सुनाओ। कहने का आशय यही है कि बनारस में तबले की परम्परा पर विभिन्न सांगीतिक, विधाओं का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है।

उपर्युक्त अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि बनारस घराने के तबले में किस प्रकार वहां की सांगीतिक, सांस्कृतिक, शैलियों का समावेश दिखायी देता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1. डॉ. मिश्रा, कामेश्वर नाथ, काशी की संगीत परम्परा, (लखनऊ, भारत बुक सेन्टर)।
2. मराठे, मनोहर भालचन्द्र राव, ताल वाद्य शास्त्र, तृतीय संस्करण, (ग्वालियर शर्मा पुस्तक सदन, (म. प्र.))।
3. डॉ. त्रिपाठी, शिवेन्द्र प्रताप, तबला विशारद, प्रथम संस्करण, (नई दिल्ली, कनिष्क पब्लिर्शस, डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2012)।
4. श्री माईणकर, सुधीर, तबला, वादन-कला और शास्त्र, (मिरज, अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल)।
5. मुखर्जी, विश्वनाथ, बना रहे बनारस, तृतीय संस्करण, (वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2009)।
6. डॉ. मिश्र, विजय शंकर, तबला पुराण, (दिल्ली, कनिष्क पब्लिशिंग एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2005)।
7. संगीत पत्रिका, जनवरी-फरवरी 1993, श्रृंखला अंक, पृ.ठ.सं. 103।
8. नादार्चन 1992, पृ.ठ.सं. 1।
9. वही।
10. नादार्चन, 1992 पृ.ठ.सं. 24।
11. नादार्चन, 1992, पृ.ठ.सं. 38।
12. काशी की संगीत परम्परा पं. कामेश्वर नाथ मिश्र, पृ. ठ.सं. 53।
13. साक्षात्कार : पं. किशोर मिश्र

तबला वादन (कला और शास्त्र के संदर्भ में)

आकर्षिका

कला 'भावना' (Emotions) और आत्म प्रेरणा (Intution) से सम्बन्धित होती है। व्यक्तिनिष्ट व संयोग रूप होती है एवं एकात्मकता का दर्शन कराती है।

शास्त्र किसी प्रागैतिहासिक काल से चले आये विषय का वैज्ञानिक अध्ययन 'शास्त्र' कहलाता है। यह एक स्वतंत्र विषय है जो कि वस्तुनिष्ट होता है।

तबला वादन कला कैसे और उसका शास्त्र क्या माने - यह सब जानने के लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि कला एवं शास्त्र में क्या अंतर है।

प्रारम्भ में संगीत (तबला) क्रियात्मक था। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य की चेतना बढ़ी उसनें अपने कार्यो को समझने का प्रयास किया और परिणाम स्वरूप तबला शास्त्र का जन्म हुआ।

संगीत (तबला) कला में शास्त्र का उपयोग और उद्देश्य कला की प्रभावात्मकता को बढ़ाना ही होता है।

गायन कला का विचार करते समय हम स्थूल रूप से कहते है कि गायन में ताल व लय ही शास्त्र है किन्तु यह विधान केवल अर्धसत्य है क्योंकि गायन कला जिस तालाकार रचना में निबद्ध करके प्रस्तुत की जाती है उस ताल की आ ति का वर्णन, उसे व्यक्त करने के लियें निर्धारित किये गये हस्त क्रिया विषयक नियम आदि ताल विषयक शास्त्र है अर्थात्- तबले की भाषा का अपना एक स्वतंत्र शास्त्र है जिसके कई प्रकार है -

1. ताल निर्माण के नियम।
2. छन्द।
3. ताल तथा ठेका संकल्पना।
4. ताल के दस प्राण।
5. विस्तार क्रिया के नियम।
6. बंदिश की संकल्पना का विश्लेषण इत्यादि।

जैसे तीन ताल, तिलवाड़ा, अद्धा आदि 16 मात्र की समान ताले है परन्तु इनका वादन भिन्न-भिन्न प्रकार की गायन शैलियों के साथ होता है क्योंकि तबले के ठेके के विविध स्वरमय, बंद-खुले अक्क्षर आदि सब गायन के स्वरों एवं शब्दों के समकक्ष विविध भावनाएं निर्माण करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण योगदान किया करते है।

लयों की विविध गतियों एवं सुनियोजित बोलो के नादों के जरियें रसों (श्रृंगार रस, भक्ति रस, वीर रस आदि) की उत्पत्ति होती है जिससे गायन या वादन अधिक प्रभावपूर्ण प्रतीत होता है।

कला एवं शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं अर्थात्- यहॉ यह कहना आवश्यक है कि शास्त्र कला के मूल रूप को शुद्ध करने का प्रयास करता है। तथा शास्त्र के अन्तर्गत उसकी भाषा का अनुसरण करते हुये प्रस्तुत की गई 'कला' अपना एक स्वतंत्र उच्च स्तर कायम रखती है लेकिन साथ ही साथ केवल शास्त्र के दबाव से कला स्थितिशील (Static) न बने, विचारहीन न बने, निर्जीव न बने, इसका भी हमें ध्यान होना चाहिये। क्योंकि संगीत एक प्रयोगधर्मी कला है। और कला में नए-नए प्रयोग करने का प्रयास होता है और होना भी चाहिए ऐसे नए-नए प्रयोगो स कला का रूप बदलता रहता है। इन प्रयासों से तबले की भाषा में भी बदलाव दिखाई देता है।

. गोधार्थी, भातखण्ड़े संगीत समविविद्यालय लखनऊ

वर्तमान में तबला वादन में छोटे-छोटे बोल, निकास में सफाई व माईक या Recording सुनने में मधुर लगे व प्रभावपूर्ण लगे ऐसे बोलो का वादन होता है।

जबकि पहले जब Technology इतनी Develop नहीं थी तब खुले व असरदार बोलों का वादन होता था ताकि सभी श्रोतागण को सुनायी दे सके। कालचक्र की गति में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण जन-रूचि में समय-समय पर परिवर्तन प्राचीन काल से होता चला आ रहा है और इतिहास इसका साक्षी है। एक ओर रूढ़िवादी अपने पुराने नियमों व शास्त्र का पालन करते हैं तो दूसरी ओर प्रगतिवादी हमेशा नई चीजों का प्रयोग करते हैं।

प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार का वादन - पेशकार, कायदा, रेला, टुकड़ा इत्यादि संकल्पनाओं का अर्थ-निरूपण (Interpretation) अलग-अलग हो सकता है, चाहे वो एक ही घराने के क्यों न हो और तदानुसार उनका प्रस्तुतिकरण भी भिन्न-भिन्न हो सकता है, इस संभावना को शास्त्र को स्वीकारना चाहिए।

संक्षेप में निष्कर्ष यह है कि शास्त्र के नियम भी कलाकारों की क्षमता के अनुसार बदले जा सकते है, इसका मान शास्त्रकारों को होना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं, कि शास्त्र के नियमों को जैसे-चाहे इच्छानुसार बदल ले।

विद्यार्थी तथा सामान्य कलाकारों द्वारा तबले का शास्त्र पूर्णतः अनुपालन होना चाहिए। यह ज्ञात होना आवश्यक है कि शास्त्र के नियम साध्य नही, अपितु साधक है। हम ताल के नियमों का पालन कर अच्छा तबला वादन कर सकते है परन्तु केवल शास्त्र का पालन कर उच्च कोटि के कलाकार बज गए ऐसा अनिवार्य नहीं क्योंकि शास्त्र का पालन मात्र ही किसी व्यक्ति को श्रेष्ठ कलाकार नहीं बनाता क्योंकि तबले का मूल है, कर्ण प्रियता और लोकरंजना। प्रत्यक्ष व्यवहार में सांगीतिक वादन का प्रस्तुतिकरण होता है- श्रोताओं के सामने। और जिसका संगीत (वादन) श्रोता गणों की दीर्घकाल तक, मनोरंजक प्रभावपूर्ण एवम् नवीनता से परिपूर्ण लगता है वही व्यक्ति एक उच्च कोटि का कलाकार बन पाता है, क्योंकि उसका (वादन) संगीत चिरस्थायी होता है और ऐसे चिरस्थायी संगीत को शास्त्र भी स्वीकारता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. तबला वादन में निहित सौन्दर्य - पं. सुधीर माईवकर।
2. संगीत निबन्धक संग्रह- प्रो. हरिश चन्द्र श्रीवास्तव।

काशी का एक अनूठा जलोत्सव बुढ़वा मंगल का मेला (19वीं-20वीं सदी)

डॉ. ज्योति सिन्हा

सृष्टि के अनन्त प्रवाह के प्रतीक रूप में अभिव्यक्त नदियाँ मानव मात्र के दुः ख के तारण हेतु तीर्थ हैं। नदियों के प्रति पूज्य भाव रखते हुए वेदकालीन ऋषियों ने उनकी निर्मलता बनाये रखने और उसके प्रवाह को अपनी स्वाभाविक दिशा एवं गति बनाये रखने की निष्ठा का लक्ष्य रखा था। ऋग्वेद में नदियों के महत्त्व को बताते हुए ऋषि ने लिखा है- "सूर्य जिनको रश्मियों से फैलाता है, जिनसे इन्द्र तरंगावली पैदा करता है, वे सिन्धु नदियां हमारा कल्याण करें।"[1] स्वाभाविक है कि जल मानव जीवन को जीवनी शक्ति प्रदान करता है और नदियों को जल स्रोत का मुख्य साधन माध्यम माना गया है। अतः जल के साथ ही नदियों का महात्म्य है। जल को शक्तिवर्द्धक, रोगनाशक, औषधीय गुणों से युक्त, आयुवर्द्धक, तथा अमृत समान माना गया है। इन कारणों से ही हमारे ऋषियों ने माना कि, नदियाँ मनुष्य के लिये सुख साधक है, घृत के तुल्य पुष्टिकारक एवं मधुर जल देती हैं, सरस्वती और सिन्धु आदि नदियाँ हमें इसी प्रकार सुखी बनावे, जैसे वर्षा औषधियों को, नदियाँ जल से पूर्ण हों और हमें किसी प्रकार से क्षति न पहुँचाती हुई मधुर जल दें।[2] समस्त वेदों में पर्यावरणीय संरक्षण के अन्तर्गत जल को दैवीय मानते हुए उसके संरक्षण की बात कही गयी है। नदियों के प्रति हमारी आस्था, उसके जल के प्रति पूज्य भाव, उसके संरक्षण के माध्यम से हम अपने जीवन के संरक्षण की कामना करते हैं।

भारत की नदियों में पवित्रता एवं महात्म्य की दृष्टि से गंगा का स्थान सर्वोच्च है। अपने गुणों के कारण यह विश्व की श्रेष्ठतम नदी है। हमारी संस्कृति में जहां गंगा स्नान करना पुण्य माना गया है, वहीं घरों में भी गंगा जल रखने की पुरातन परम्परा है। विष्णु पुराण के अनुसार, जो हजारों योजन दूर से गंगा पावन शब्द का स्मरण करता है, वह अपने सभी पातकों से मुक्त होकर विष्णु लोक को चला जाता है। पापमोचिनी, प्राणदायिनी गंगा सभी का कल्याण करती है, ऐसी लोक मान्यता है। गंगा की महिमा से संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, अरबी आदि साहित्य का आंचल जितना भरा गया उतना अन्य किसी नदी की महिमा से नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो एक ही चौपाई में गंगा जी के सम्बन्ध में वह सब कह दिया जिसे हमारी परम्परा में माना जाता रहा है - गंग सकल मुद मंगल मूला।सब सुख करनि हरनि सब सूला।। अर्थात् समस्त आनन्द एवं मंग ल का विधान करने वाली, सुख समृद्धि प्रदान करने वाली तथा इहलाक एवं परलोक की विपत्तियों का विनाश करने वाली गंगा के समान भला कौन हो सकता है। नदियों तथा उसके जल के साथ मानवीय संवेदना तथा मानव जीवन के साथ सह-सम्बन्ध के सन्दर्भ में विद्या बिन्दू सिंह जी ने अपनी पुस्तक 'साल भर पूर्व' में लिखा है- "जल और नदी से हिन्दू की आत्मीयता जुड़ने के कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि उसकी संस्कृति के विकास में जल और अग्नि का बड़ा योगदान रहा है। जहाँ अग्नि को उसने व्यक्त देवता माना, वहां जल को अव्यक्त माना। अग्नि को सृष्टि का अंकुरण माना तो जल को सृष्टि का गर्भ माना

(पूर्व अध्येता भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति, निवास, शिमला), प्रवक्ता संगीत, राज राजेश्वरी महाविद्यालय, जौनपुर

और यज्ञ का जल से अपरिहार्य सम्बन्ध देखा। दूसरा कारण यह है कि उसने वाक् को सरस्वती (जलधार वाली) के रूप में प्रवाहशील शक्ति के रूप में देखा।" नदी की गतिशीलता, भाषा की गतिशीलता और धर्म की गतिशीलता - इन सबको जल की एक बिन्दू में देखा। इसी एक बिन्दू का आचमन उसे पवित्र कर देता है। तीसरा कारण है, इसका भौतिक संस्कार भी नदीमातृक रहा है। नदियां उसकी खेती को उर्वर करती रही हैं। हजार-हजार वर्षों से जोती जाती हुई भूमि नदियों के कारण नयी होती रही है। निरन्तर नदियों के किनारे, नदियों के उद्गम संगमों के पास लोग इस आशा के साथ आते रहे कि यहां पवित्र जीवन के लिए प्रेरणा मिलेगी.....

नदियों को देवियों के रूप में देखा[3]

गंगा सबको तारती हैं, चाहे इस पार हो - चाहे उस पार। वह अमृत की धारा है, मस्ती की धारा है। उसी मस्ती में नहाया 'बनारसी' नौका पर सवार होकर माता की गोद में खेलता है, गंगा महिमा गाता है- "हर-हर महादेव शम्भो काशी विश्वनाथ गंगे।" उषा के आगमन से पूर्व ही बनारस जाग जाता है। स्त्रियाँ स्नान ध्यान करके गंगा की पूजा करती है, आर-पार की माला चढ़ाती हैं। "प्रत्येक मंगल कार्य की साक्षी है गंगा, नये वर वधू, नवजात शिशु, उपनयनधारी बटुक सभी गंगा पूजने आते हैं, परमधाम प्रस्थान से पूर्व मिट्टी भी माता से विदा लेने यही आती हैं।"[4] गंगा मईया के प्रति पूरे भारत में जो सम्मान श्रद्धा तथा पूज्य भाव आज भी उपस्थित है वह शताब्दियों के बाद पनपी तथा विकसित हुई है। आस्था का यह चित्रण हमें साहित्य, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला के साथ ही सिनेमा संगीत, मौखिक परम्परा में सबसे समृद्ध विधा लोकगीतों तथा भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण उपादानों मेलों, उत्सवों, व्रतों-पर्वों आदि के निमित्त दखेने को मिलता है।

भारत तीर्थों-पर्वों का देश है तथा साथ ही उत्सवप्रियता का भाव इनसे जुड़ा हुआ है। उत्सव भाव मनुष्य के भीतर ही रसमयता की पहचान कराते हैं। अनेक पर्व पवित्र नदियों के पास श्रद्धापूर्वक जाने और स्नान करने का विधान देते हैं। ये उत्सव पर्व भारतीयता की पहचान कराते हैं। भारतीय मन की उत्सवप्रियता उसे अभावों में भी सुख देती है। ये जीवन का अंग ही नहीं जीवन की रसमयता की पहचान भी है।

वाराणसी अथवा भारत में कहीं भी लगने वाले मेलों में भारतीय संस्कृति की झलक पायी जाती है। इन मेलों में सामाजिकता, संस्कृति आदि का अद्वितीय सम्मिलन होता है। परम्परा में वर्षों से मनाये जाने वाले उत्सव लोक की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम हैं। काशी अथवा वाराणसी या कहें बनारस, अपनी मौज-मस्ती के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है और अपनी इस प्रवृत्ति अथवा सोच को चरितार्थ करने के लिए ही उसने अनेक पर्वों, उत्सवों, मेलों तथा महोत्सवों की कल्पनायें कीं। यह कल्पनायें उनकी उत्सवप्रियता को दर्शाती है, साथ ही जीने की अदभ्य आकांक्षा को भी व्यक्त करती हैं। इनकी उत्सवप्रियता प्राचीन काल से ही मेलों, महोत्सवों के रूप में समाज में स्थापित रही हैं। नये युग सन्दर्भ में अवश्य मेलों के रूप-रगं में परिवर्तन होता रहा है, परन्तु उत्सवप्रियता जस-की-तस बनी हुई है। मेलों की प्राचीनता पर ध्यान दें तो कुछ मेले बहुत प्राचीन हैं तथा कुछ ऐसे जो अपने समय में अपने अनूठे अन्दाज व मिजाज से इतिहास में दर्ज हो गये। अनेक मेलों का सम्बन्ध अनेक देवी-देवताओं, वृक्ष, नदी, कूप, पोखर, तालाब आदि से है। परम्परा में किसी काल विशेष में मनाये जाने वाले मेले उस काल की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से निश्चित रूप से प्रेरित होते हैं। अर्थात् उस काल के लोगों की सांस्कृतिक अभिरुचि अभिव्यक्ति इन मेलों में दिखाई देती है। यद्यपि बनारस में, माह में पड़ने वाले अनेक पर्व व त्यौहार हैं, जैसे नवरात्र मेला, रामनवमी, गंगा सप्तमी, गंगा दशहरा, गाजी मियां का मेला, रथयात्रा, नागपंचमी, कजरी तीज, सोरहिया मेला, लोलार्क छठ, रामलीला, कार्तिक पूर्णिमा, पंचकोशी मेला, वेदव्यास मेला, शिवरात्रि, होली एवं बुढ़वा मंगल का मेला। इनमें से अनेक मेलों का सम्बन्ध कूपों, कुण्डों, पोखरों व नदियों से है। नवरात्र का मेला दुर्गा कुण्ड में (चैत कृष्ण पक्ष में) लगता है। रामनवमी का मेला (चैत्र शुक्ल पक्ष) रामघाट पर लगता है, लोग गंगा नहाकर राम मन्दिर का दर्शन करते हैं। गाजी मियां का मेला, जेठ माह के पहले एतवार को बकड़िया

कुण्ड पर लगता है। गंगा सप्तमी का मेला वैसाख शुक्ल पक्ष सप्तमी को गंगा जन्म के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। पूर्व में गंगा किनारे लगने वाले इस मेले में खूब गाना होता था, पर अब उस दिन पंचगंगा घाट पर शहनाई का दंगल होता है। जेठ शुक्ल पक्ष दस को गंगा दशहरा का मेला लगता है। गंगा स्नान व दान की परम्परा है। मध्यम वर्ग की लड़कियां इस दिन नदी में अपनी गुड़ियों का विसर्जन करती हैं। फिर चार महीने तक खिलौने नहीं छूती थीं। पहले यह त्यौहार बड़े ही उल्लास के साथ मनाया जाता था, परन्तु धीरे-धीरे इस मेलें की बहुत सी चीजें पीछे छूटती चली गई। गुडियों से खेलने के दिन नहीं रहे, तो विसर्जन किसका हो। नदियों से मंगलकामना की आकांक्षा इन पुरानी प्रथाओं में निहित थीं। आज बस स्नान, दान तक सीमित रह गया है। शंखू धारा के मेले में लोग इस दिन शंखूधारा के तालाब में नहाते थे। 19वीं सदी में वाराणसी के रईस चपं तराम अमीन के बाग में इकट्ठा होकर नाच देखते थे। सावन में लगने वाले हर एतवार के इस 'वृद्धकाल मेला' में स्वास्थ्य लाभ के लिए वृद्धकाल में वे कुँए के पानी से स्नान करते हैं। सावन की पंचमी को लगने वाला नागपंचमी का मेला 'नाग कुआं' पर लगता है, लोग कुंआ से स्नान कर नाग का दर्शन करते हैं। भादों में लगने वाले कजरी तीज का मेला जो शंखूधारा और ईश्वरगंगी पर लगते हैं, के दिन स्त्रियाँ गंगा स्नान और व्रत करती हैं। पूर्व में बनारस की गौनिहारिने एकत्रित होकर कजरी गीत गाती व इनाम पातीं। लोलारक छठ का मेला अस्सी के पास लोलार्क कुण्ड पर लगता है। लोग कुण्ड में स्नान करते हैं। पूर्व में इस मेले में भी बहुत सी गौनिहारिने एकत्रित होती थीं तथा कजरी गाती थीं। सोरहिया मेला में भी लक्ष्मी कुण्ड में स्नान करने की परम्परा है, जो भादों से कुंआर तक एक महीने चलता है।

अतः अधिकांश मेले व उत्सव गंगा स्नान से जुड़े हुये हैं अथवा ये कहें कि काशी में गंगा स्नान के पश्चात् दर्शन पूजन की एक परम्परा सी है, जो हमें विविध पर्वों, त्यौहारों तथा मेलों में दिखाई देती है। गंगा स्नान उनके जीवन का अभिन्न अंग और उत्सवप्रियता उनका जीवन है। अतः नदियों से उनका सह-सम्बन्ध उनकी संस्कृति है, जो उनके जीवन के साथ रची-बसी है। इन मेलों में हजारों लाखों प्राणी भाग लेते हैं। परिवार के परिवार अपना घर-बार, काम-काज छोड़कर इनमें सम्मिलित होने चले आते हैं। किसी एक नगर के सांस्कृतिक वैभव की दृष्टि से काशी बनारस का अपना खास महत्त्व है। सांस्कृतियों को सहेजने व विस्तारित करने की अपनी अनूठी परम्परा काशी व काशीवासियों की रही है। भले ही कालक्रम से काशी की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ बदलती रही, पर यहाँ की संस्कृति बनी रही। संगीत नृत्य शैलियाँ जो संस्कृति की महत्वपूर्ण घटक हैं, उनकी धारा का कभी क्रम भंग नहीं हुआ। संरक्षक व पोषण भी बदलते रहे परन्तु संगीत की धारा प्रवाहमान रही। संगीत की इसी अविच्छिन्न धारा की निरन्तरता को बनाये रखने की दृष्टि से 18वीं, 19वीं सदी में एक सांगीतिक मेले की शुरुआत हुई, जिसे महादेव के साथ जोड़कर, इस मेले का नाम 'बुढ़वा मंगल' का मेला पड़ा। काशी का यह अनूठा, बेजोड़ व अपने आप में बेहद खास मेला था। नदियों के किनारे लगने वाले मेलों व उत्सवों की श्रृंखला में गंगा की लहरों पर सजने वाला यह मेला न केवल संगीत को संरक्षित रखता बल्कि काशी की संस्कृति को भी जीवन्त बना देता। नदियों का सांस्कृतिक अभिप्राय इन मेलों- उत्सवों में दिखता है।

बुढ़वा मंगल का मेला इन मेलों में अपनी विशेष महत्ता रखता है। जहां उपरोक्त अनेक मेले लोक की धार्मिक भावना से जुड़े हुये हैं, वहीं बुढ़वा मंगल का मेला सांस्कृतिक भावना से, मनोरंजन, गीत, संगीत, मौज-मस्ती के साथ जुड़ा है। यद्यपि यह मेला भी बनारस वाले अपने बुढ़वा शिव बाबा के विवाह के उपलक्ष्य में मनाते हैं, परन्तु उत्साह व उमंग के साथ नाच रंग के साथ। मौखिक एवं ऐतिहासिक दस्तावेजों के आधार पर विचारते हैं, इस मेले को और कल्पना करते हैं, उस अनूठे मेला को जो गंगा के ऊपर बजड़ा पर सजता था।

लोक मान्यता एवं काशी वासियों की आस्था के अनुसार यह विदित है कि जब ये काशी स्थूल रूप से प्रगट नहीं थी, तब भी भगवान शिव यहाँ रहते थे। उनके सदा से काशी में विद्यमान होने के

कारण ही उन्हें बुढ़वा बाबा कहा जाता है। उन्हीं की प्रेम व भक्ति में 'बुढ़वा मंगल' उत्सव मनाया जाता है। होली के बाद पड़ने वाले मंगलवार को यह मनाया जाता है। होली का आरम्भ काशी में शिवरात्रि से होता है और बुढ़वा मंगल से समाप्त होता है। शिव से ही आरम्भ और शिव से ही अन्त। महादेव की इस नगरी का हर उत्सव मेला महादेव को समर्पित है। 'प्रेमधन' के अनुसार बुढ़वा मंगल का मेला बुढ़वा बाबा महादेव के मंगल विवाह का मेला है और दंगल यानि मंगल के दसूरे दिन दोपहर के बाद घाट पर जुटी भीड़ बारात है। इस मेले में काशीराज सहित अनेक महाराजाओं के कच्छे (नौका) पटते थे।[5] होली के बाद मंगल या संवत के अन्तिम मंगल को गंगा के वक्ष पर यह मेला लगता। कल्याणभूति शिव की मुद्रा को आत्मसात कर बनारस के लोगों ने 'बुढव़ा बाबा के मंगल रूप का शिव विवाह के अवसर पर मंगलोत्सव मनाना शुरू किया। और नाम दिया बुढ़वा मंगल। यह प्राचीन मदन महोत्सव का ही रूप है। कवि पुष्कर जी के अनुसार-'कुछ लोग इसे मंगलकारी मेला भी कहते हैं।[6]

'बुढ़वा मंगल' या 'जल उत्सव' पर्व का इतिहास बहुत पुराना है। सात वार नौ त्यौहार के लिये पहचाने जाने वाला शहर बनारस में बुढ़वा मंगल की मेला करीब तीन सौ साल पुरानी है। कहा जाता है कि 300 वर्ष पहले बुढ़वा मंगल पर रात भर सैकड़ों नावों पर नृत्य संगीत होता था। शान शौकत वाले इस मेले में नावों के झुमड़ एक-एक कर गुंथे होते थे। इसकी शुरुआत रामनगर से होती थी और राजघाट तक फैली होती थी। सैकड़ों नावें फूल मालाओं से सजाई जाती और रसिक जन पैजामा कुर्ता पहने, सिर पर गुलाबी टोपी और हाथ में गुलाबों की पंखुड़ी लिये शास्त्रीय संगीत का आनन्द उठाते थे।विद्वानों के मत में, 1735 में काशी के नायब मीर रूस्तम अली ने पहली बार इस भव्य मेले का आयोजन किया था। काशी नरेश चेत सिंह का संरक्षण मिलने के पश्चात् यह पर्व 'लाखा मेला' के नाम से भी प्रसिद्ध हो गया था। एक मेला ऐसा जो गंगा जी की पावन जलधारा पर लगता था और जिसमें लाखों लोग भाग लेते थे। इस लाखा मेले में आने वाले लोग नाव से मेले में आते, नाव से ही मेले में यहाँ-वहाँ घूमते, नाच गाने का आनन्द लेते। राजा, जमींदार, सेठ, साहूकार, रईस, कलाकार, कवि, साहित्यकार से लेकर आम जनता की सहभागिता इस मेले में होती, लुत्फ उठाते।[7]

अनेक विद्वत लेखकों, इतिहासकारों, साहित्यकारों एवं संगीत विद्वानों ने तत्कालीन बुढ़वा मंगल के संन्दर्भ में अपनी पुस्तकों लेखो व संस्मरणों में सुंदर वर्णन किया है। अतः बुढ़वा मंगल के मेले को समझने के लिए उनके रोचक उल्लेख पर दृष्टि डालते हैं....

बनारस की उत्सवप्रियता के सन्दर्भ में डॉ. मोतीचन्द्र ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि- ''बनारस वालों की उत्सव प्रियता आज दिन भी प्रसिद्ध है। उत्सवप्रियता बनारस की खास विशेषता है। प्राचीन परम्पराओं व लोक संस्कृति की धारा को प्रवाहमान बनाये रखने में इन उत्सवों व मेलों की महत्ता सर्वमान्य है। जिनका सम्बन्ध सर्वसाधारण जनता से है। बनारस के सन्दर्भ में देखें तो ये उत्सव व मेले बनारस की प्रधान सम्पत्ति है और दूसरे नगरों में इस रूप में नहीं मनाये जाते। बनारस में होली का त्यौहार बड़े ही उल्लास से मनाया जाता रहा हैं इस होली का सबसे प्रसिद्ध अंग रहा है-बुढव़ा मंगल। आज निश्चित रूप से इसकी कमी वर्तमान में है, परन्तु कभी यह मेला अनेक दृष्टियों से दर्शनीय था। होली के बाद दूसरे मंगलवार से यह उत्सव प्रारम्भ होता जो भारत में अपने ढंगं का अकेला मेला होता। कहा जाता है कि इस महोत्सव के प्रवर्तक वर्तमान काशी नरेश के पूर्वज थे और इसे प्रगति प्रदान करने वाले थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द के पितामह हरखचन्द जीं अन्य मत से इस महोत्सव के प्रवर्तक अवध की नवाबी में बनारस के सूबेदार बनकर आये-मीर रूस्तम अली थे (1730) जो संगीत व साहित्य के अनुपम ज्ञाता व रसिक थे। शचिन्द्र नाथ चटोपाध्याय द्वारा कृत 'काशी धाम' 18वीं सदी के प्रारम्भ की कृति है। जिसके आधार पर बुढ़वा मंगल मेले के जन्मदाता के रूप में मीर रूस्तम अली का नाम अधिक प्रामाणिक लगता है। काशी राज के बनारस गजेटियर के अनुसार इस अभिनव मेले की परिकल्पना के क्रम में

क्रमशः काशी नरेश बलवन्त सिंह, महाराज चेत सिंह एवं नवाब वाजिद अली शाह का नाम आता है।[8]

'बुढ़वा मंगल' मेले के संस्थापकों को लेकर भिन्न मतभेद देखे जाते है। कोई चेत सिंह को कहता है कोई उदित नारायण को, कोई हरखचन्द को तो कोई मीर रूस्तम अली को। मीर रूस्तम जब बनारस के सूबेदार बनाकर यहां भेजे गए तो यहां के गीत-संगीत को सुनकर मस्त हो गए और बनारसी रंग में रंग गए। हीराबाई की होरी सुनकर मदहोश हो गए परन्तु शामे-अवध की कमी खलती थी। 'सुबह बनारस' से तो वे अभिभूत थे। नवाब सादात खां से मीर रूस्तम अली ने जब सुबहे बनारस की तारीफ की तो नवाब भी बनारस देखने को उत्सुक हो उठे मीर ने नवाब के स्वागत में मनसा राम की सलाह से गंगं ा पर बजड़े सजवाये, उन पर खाने-पीने नाच-गाने का माकूल इंतजाम किया। ऐसा लगता था कि रात में गंगा पर आसमान से सितारों का शहर ही उतर आया है। गाने बजाने का ऐसा समा बंधा कि पता ही नहीं चला कब रात बीत गई। दुलारी ने गुनकली छेड़ी 'बाजे डमरू हर कर। मीर रूस्तम अली तुम ठीक कहते थे-सुबहे-बनारस लाजवाब है हमारी दिली ख्वाहिश है कि शामें अवध के साथ सुबहे बनारस लफ़्ज भी जोड़ दिया जाए...फिर पूछा-ये नाच गाने की महफिल और वो भी बजड़ों पर-क्या खूब इसे क्या कहते हैं! मीर ने बताया कि बनारस वाले इसे 'बुढ़वा मंगल' कहते है.... नवाब ने कहा बड़े पुरमजाक लोग है इस शहर के। आगे हर साल जल्से में एक बजड़ा सरकारी भी रहेगा और इसका खर्च शाही खजाने से दिया जाएगा। यह हमारा हुक्म है। बरसों तक बुढ़वा मंगल के मेले में सरकारी बजड़ा सजता रहा। जब राजा बनारस गद्दी पर बैठे तो उनकी 'सोनमुखी' 'मोरपंखी' और 'घुड़दौड़' पानी पर तैरने वाली उस संगीत की महफिल की शान बन गई।[9]

इस मेले का आरम्भ कब हुआ इस विषय में डॉ. भानूशंकर मेहता लिखते हैं कि- "बनारस का यह महोत्सव यह अनूठा लाखा मेला कब शुरू हुआ यह शोध का विषय है शायद गोस्वामी तुलसीदास के समय इसकी शुरूआत हुई... जेम्स प्रिंसेस 1830 में 'बनारस इलेस्ट्रेटेड' में 'बुढ़वा मंगल' का एक चित्र देता है और काशी खंड का उल्लेख करते हुए बताता है कि होली के बाद मंगल को दिन में लोग दुर्गा जी का दर्शन करने जाते थे। कुण्ड के पास मेला लगता था.... शाम को मेला गंगा तट पर आ जाता...सजी-सजी नावों पर चंदाव तनता, रोशनी होती...रात नौ बजे काशी के राजा रामनगर से अपनी 'सोनमुखी' पर बैठे, हुक्का पीते, काशी के घाटो की ओर जाते जहां 'हिंगुन' का गाना होता। गौर करें तो समझ में आता है कि मेला बहुत पुराना है।"[10]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी जो इस मेले में बढ़चढ़ कर हिस्सा लेते, बुढ़वा मंगल का रोचक वर्णन इस प्रकार करते हैं-

"गंगा में चहुँ ओर सो दीपहि लखात,
नावनि सो सुरसरि छिप्यो जल नहि नेकु दिखात।
आनि परत धुनि कान में मधुर सुरन के संग,
तैसे ही कहुँ बजि उठत सारंग राग मृदंग।
मनु विमान सब देव के सुरसरि में दरसात,
कै तारन के मंडली घूमत है या रात।"

बुढ़वा मंगल की छटा का वर्णन सन् 1857 में अपनी आँखों देखा वर्णन कवि जयनारायण घोषाल कर गये हैं-

मयूर पंखी घोड़ दौड़ देखि कदाचित्
कतक पाटेली मध्ये चांदोया विहित।
ए सकल नौका मध्ये करिया बिछाना,
गागासि संग में नौका लय सर्वजना।
एई मत नौका हय चारि पाँच शत,
शकले भाटिया चले सहर पर्यन्त।
पचगंगा घाट यथा तत दूरे अन्त।

अर्थात् पटी हुई तीव्रगामी नौकायें, बजरे, डोंगिया, मयूरपंखी और घोड़ दौड़ नावें दिखाई देती हैं। पटी हुई नौकाओं पर चंदवा तना होता है। अस्सी से लेकर पंचगंगा घाट तक नावों का जाल बिछा रहता हैं। लगभग चार सौ पाँच सौ नौकाएँ एक दूसरे से बँधी रहती हैं। इन नौकाओं पर नाच तमाशें इस प्रकार होते थे-

बड़-बड़ पाटलिते पंवरिया नाचे,
भाउरा छोकरा, भाँड़ कत काच काचे।

तबला सारंगी बांसी सेतार मुचंग,
मंदरा रबाब वीणा तम्बूरा मृदंग।

अर्थात् कहने का मतलब इन नौकाओं पर भांड और वेश्यायें नाचती थीं। तबला, सारंगी, सितार व तम्बूरा आदि वाद्यों से सारा वातावरण मुखरित रहता था।[11] इस मेले के सन्दर्भ में श्री कृष्ण देव उपाध्याय ने लिखा है ''काशी की होली का सबसे प्रसिद्ध अंग है 'बुढ़वा मंगल', जो अनेक दृष्टियों से दर्शनीय है। इस महोत्सव के प्रवर्तक वर्तमान काशी नरेश के पूर्वज थे। और इसे प्रगति प्रदान करने वाले थे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पितामह हरख चन्द्र जी। इस अवसर पर छत वाली नावें जिन्हें यहाँ की भाषा में 'बजड़ा' कहते हैं, सजायी जाती है। प्रधान 'बजड़े' पर 'मंगला-मुखियों' का गान होता है।...बसन्त की मस्तानी ऋतु, उसमें होली की मस्ती, फिर गंगा की तरंगों का स्पर्श करने वाली शीतल तथा मदं वायु, उस पर विजया का नशा और सबके ऊपर कोकिल कंठा 'मंगलामुखियों' द्वारा अमृत वर्षा, सभी मिलकर एक अजीब समां बाँध देते हैं, जो दर्शकों और श्रोताओं को आनन्द के सागर में डुबो देते हैं। परन्तु दुःख है कि काशी का यह अनुपम उत्सव अनेक दशकों से अब अतीत की कहानी बन गया है।''[12]

शिवनन्दन सहाय जी ने जो पुस्तक 'हरिश्चन्द्र लिखी है, उसमें भी उन्होंने बनारस के बुढ़वा मंगल मेले का उल्लेख किया है। देश देशान्तर में बनारस का बुढ़वा मंगल और रामनगर की रामलीला प्रसिद्ध है। पहले लोग वर्ष के अन्तिम मंगल को (जिसे बूढ़ा मंगल कहते थे) दुर्गा जी के दर्शनों के लिये नाव पर जाते थे। धीरे-धीरे उन नावों पर नाच-गाना भी होने लगा। ऐसा काशी महाराज चेतसिंह के समय से शुरू हुआ था। भारतेन्दु के पितामह बाबू हरिश्चन्द्र और काशीराज के विचार विमर्श के बाद इसे आकर्षक रूप दिया गया, जो चार दिन तक चलता था। राजघाट से अस्सी तक कई तरह से सजी हुयी हजारों नौकायें होती थी। भारतेन्दु की विशाल नौका पर कई नाचने-गाने वालियाँ, भांड़-कत्थक और अन्य गुणीजनों का जमघट होता था। दर्शकों में एक से एक विद्वान और रसिक उपस्थित रहते थे। एक तरह से यह रस, अनुराग और काव्य का खजाना होता था। गाने वाली समय के अनुकूल राग-रागिनी, शुद्ध स्वर और सांचे में ढ़ली लय में निपुण होती थी। इसके अलावा तानबाजी, गले का दमखम और नृत्य में ताल-गति तथा तोड़े का टकसाल में ढले होना आवश्यक था। गीत में भाषा भाव और बन्द भी समय, समाज और श्रोताओं की रूचि के विरूद्ध नहीं होते थे। एक नौका पर सभी गुणीजन, एक पर भोजनालय, एक पर शयनागार, और एक एकान्तालय का काम करती थी। कई नौकाएँ लोगों को मनचाही जगह पर पहुँचाने के लिये तैनात थी।[13]

काशी नरेश राजा उदित नारायण सिंह ने जहाँ रामनगर में रामलीला की स्थापना की वहीं 'बुढ़वा मंगल' का मेला भी उन्होंने कायम किया। तीन दिनों तक चलने वाले इस मेले में गंगा जी के ऊपर नावों में एक नगर बस जाता था और गाना-बजाना नृत्य आदि का जलसा होता था जिसमें भारत के कोने-कोने से लोग यहाँ आते थे। बुढ़वा मंगल के मेले में तवायफ़ों की बड़ी धूम रहती। बनारस के एक पुराने संगीत प्रेमी दासजी महाराज 'बुढ़वा मंगल' की याद करते हुये कहते हैं-''रात दो बजे का वक्त। एक नाव पर सिद्धेश्वरी, एक पर काशी बाई, एक पर रसूलन। सबका अलग-अलग राग है। एक जोगिया की चैती गाती है-'पिया मिलन हम जाइब हो रामा।' उधर से दूसरी भैरवी में कह रही है-'कुसुमिया लोढ़न हम जाईब हो रामा, भोरे रे भोरे।' कभी तीनों नावें एक साथ लग जाती, कभी अलग बहती। लोग झूल जाते नावों का झामड़ कहां जाकर लगेगा। अब वे दिन कहाँ।''[14] काशी के बुढ़वा मंगल संगीत समारोह में समय-समय पर अनेक विदेशी पर्यटक व विशिष्ट अधिकारी सम्मिलित होते रहे हैं। सन् 1884 में भारत में वायसराय लार्ड डफरिन थे। उनकी पत्नी लेडी डफरिन ने 1884 से 1888 के बीच जो कुछ देखा सुना उसका वर्णन अपने लेख में किया है। समारोह की चर्चा करते समय उन्होंने लिखा है कि-शाम को हम जलोत्सव (बुढ़वा मंगल) देखने गये। यह उत्सव प्रतिवर्ष एक बार होता है। बनारस का प्रत्येक आदमी इसमें सम्मिलित होता है। हमने यहाँ बहुत विचित्र नावें देखी। कई तो दो-दो मंजिल की थीं और आदमियों से ठसाठस भरी हुई थीं। नावों में नाच हो रहा था। एक स्त्री घुटनों के बल बैठी थी। उसने अपना मुंह ढंक लिया था और दाँतों

में तलवार दबाकर ऐसे घूमने लगी जैसे रबड़ की बनी हो।[15]

रामचन्द्र वर्मा जी ने मेलों के संदर्भ में जो बनारस में होते थे, लिखा है कि-''यहां के बुढ़वा मंगल मेले में भी वेश्याओं की बड़ी धूम रहती थी। मेरे बचपन में यह मेला तीन दिन होता था- मंगल-दंगल और झिंगवा का मेला। पहले लोग झांझ-करताल बजाते हुए अपनी नावों पर अस्सी घाट से आते थे और दुर्गा मंदिर के दर्शन करके लौट जाते थे बाद में वेश्याओं का समावेश होने से मेला तीन दिन की बजाय छः दिन का होने लगा। महाराज बनारस, महाराज विजया नगरम और गोपाल मंदिर वालों की नावें सजने लगीं।"[16]

बनारस के साहित्यकार हो, संगीतज्ञ हो या इतिहासकार हो, बनारस के सांगीतिक उत्सवों जलसों की चर्चा करते समय वो 'बुढ़वा मंगल' व 'गुलाब बाड़ी' जैसे उत्सवों की चर्चा करना नहीं भूलते। वे न केवल उन दिनों को याद करते है बल्कि ऐसे उत्सवों की समाप्ति पर दुःखी भी होते हैं। भानू शंकर मेहता जी ने अपनी पुस्तक 'सो कासी सेइअ कस न' में बुढ़वा मंगल के संदर्भ में पंडित हरिशंकर मिश्र, प्रख्यात संगीतज्ञ से चर्चा करते हुए उनकी बात को लिखते हैं कि- "चन्दन शहीद से मुसलमानों की नावें निकल पड़ती और राजघाट की ओर बढ़ती। उधर दशाश्वमघ पर राजा मुक्तागाद्धा के बजड़े पर बड़े रामदास जी ध्रुपद-धमार शुरू करते उनका मधुर कंठ जब रामनगर किले की प्राचीर से टकराता तो रामनगर प्रसाद में शोर मच जाता और महाराजा की घुड़दौड़ विलम्बित लय में काशी के घाटों की ओर बहने लगती... क्या बतायें क्या आलम था उस मेले का, अब तो सब सपना हो गया एक-एक रईस का बजड़ा सजता, कच्छा पटता, पण्डे अपनी नाव सजाते. ..ओफ्ह इतनी नावें कि नावों का पुल बन जाता। गंगा पर तैरता बाजार और गाने बजाने की महफिलें, खेल-तमाशे (भाँडों के) गोविन्द बाबू का बजड़ा, दास का बजड़ा। देवी डोम तो...पीपा पर पटरा बांध कर अपनी रंग शाला छलकाते थे. कहां कहां के कलाकार और श्रोता आते थे...कलकत्ता के राजा लोग पधारते थे वह बुढ़वामंगल- चैती, गुलाब, गुलाल, बादला, इत्तर और गुलाब जल की फुहारें! कान के साथ रसना के रसपान का भी पूरा पिरबन्ध-कहीं ठण्ठाई, और दिव्य बूटी कहीं कुल्फी-करेजवा तर, नौका से हलवाइयों की दुकानें-चकाचक पुड़ी कचौड़ी, रबड़ी मलाई और जब दो बजड़े पास आ जाते तो कलाकारों की लड़न्त-भिड़न्त होती...और गायिकायें भी कैसी-कैसी हुस्ना बाई, मैना, विद्याधरी, राजेश्वरी, रसूलन-रोशन चौकी, नाच मशालों की जादूई रोशनी और जिस नाव पर महफिल जमी कि सभी नौकायें उसमें बंधने लगी, बोझ बढ़ा तो गड़ासे उठे, 'काट दे लहासी' का शोर और फिर फौजदारी-काहे कि उसके बिना तो मेला पूरा नहीं होता गजरा (जुगलबन्दी) होता झुमर होता, क्या-क्या राग होरी, चैती-एहि ठईया झुलनी हेराय गइले रामा, रात-रात भर-सुबहे बनारस आती तो आसावरी, ललित, भैरव और कुसुमिया लोढ़न जाईब हो रामा' की भैरवी अकुला देती-ठहरों सूरज भगवान-यह मेला खत्म न हो।"[17]

विभिन्न लेखों व संस्मरणों को पढ़कर पुरानी गायिकाओं की इन मेलों के प्रति स्नेह दिखाई देता है। कहते हैं कि इन नौकाओं पर पूरा बनारस बस जाता था। सैंकड़ों नौकायें, पंचगंगा से पूरा बनारस काशी के अलावा दूर के नगरों से नौकायें आती थी। स्पर्धा भी होती कि किसकी नौका सर्वश्रेष्ठ होगी। पचासों सजी हुई नौकाओं पर नाच-गाने का विधान रोशन चौकी, शहनाई, तवायफों का नाच, कत्थकों का नाच, भांड, नौटंकी और सबके ऊपर काशी की गजब गलेबाज गायिकाओं का गनधर्व विमोहक गान। उधर घाटों पर लोगों का भारी भीड़ गाना सुनने को जुटती। बेचन शर्मा 'उग्र' लिखते हैं कि- "एक से एक मशहूर गायिकायें अपनी अलौकिक कला दिखला रही थी...सारंगिया गजब गुनगुना रही थी तबले ठमक रहे थे गाने पक्के, ध्रुपद अंग के नहीं, लोक धुन पर थे। आंचलिक धुनों के सरस धुनी। चैता, भांड, काफी, सारंग, दादरा, गज़ल जैसी हल्की-फुल्की धुने-रागिनियों का बोलबाला था। यह शहज़ादी है, गाने से अच्छा नाचना जानती है, वह काशी बाई है दुबली-पतली नाजनी...गला-कंठ नहीं स्वर ही स्वर ऐसा सधा स्वर लगाती कि चतुरी का चित्त चक्क हो जाता...आधी रात हो चुकी विद्याधरी जिस डोंगे पर है उधर चले और उनके अद्भूत कंठ से बिहाग राग

सुने उस युग में काशी की तवायफें थी कलासिक सरस्वती, विद्याधरी, हुस्ना बड़ी मोती, राजेश्वरी, तोखी, मैना, छोटी मोती, जवाहर, टामी। नामी गिरामी गले-बाज गायिकायें, हल्के फुल्के नहीं ध्रुपद, धमार मालकोस, मल्हार बागेश्वरी, बहार, बिहाग, फाग, राग उपराग धुंआधार गाने वाली, अक्षरशः कोमल कमनीय कलावन्ति ने ऐसी फेकन्तिनी कि कोसों तक उनकी ताने बिना किसी व्यवधान के अम्लान रूप से पहचानी जाती थी।"[18] बुढ़वा मंगल- पारखी एवं रसज्ञ रईसों की इन महफिलों में श्रेष्ठ कलाकारों को पेश करने की होड़ लग जाती और उनकी उत्कृष्टता की परख होती। बनारस के राजा प्रभुनारायण सिंह की विशेष रूचि बुढ़वा मंगल में न होने के कारण यह पुरातन परम्परा धीरे-धीरे समाप्त होती गई। जालियां वाला बाग हत्याकाण्ड के बाद इसे बन्द कर दिया गया। एक कारण यह भी रहा कि शुरूआत में तो यह उत्सव बड़े ही उत्कृष्ट व उम्दा तरीके से सम्पन्न होता रहा। परन्तु बाद में अनेक अनाचार होने लगे। नावों पर वेश्यायें नाचती थीं, लोग नशे में धुत, बुत बने तमाशा देखते रहते थे, रात भर, अनवरत। मीर रूस्तम अली ने जिस 'बुढ़वा मंगल' संगीत महोत्सव की नींव डाली थी, उसको महाराजा चेत सिंह के काल में शाही संरक्षण प्राप्त हुआ।[19] प्रथम महायुद्ध के समय मेला शिथिल हो गया। आगे जाकर जलियावाला बाग काण्ड से द्रवित काशीवासियों ने मंगल नहीं मनाया। सन् 1924 में मेला पुनः आरम्भ हुआ पर इसमें पुराना रंग नहीं था। मेले में छिछोरापन, गुंडई, लफंगई बढ़ती गई। रईसों और काशीराज ने आना बन्द कर दिया। यह सन 1935-36 तक चला और अंतिम मेले में अनवरी बाई का गीत 'मार डाला- मार डाला' बहुत यादगार बन गया था। आगे चलकर विभिन्न संस्थाओं, सरकारी-गैर सरकारी संस्थानों तथा संगीतज्ञों, कला साधकों के प्रयास से घाटों पर संगीत के कार्यक्रम आयोजित हुए पर 'बुढ़वा मंगल' नहीं हुआ। कारण कई थे। वो ज़माना नहीं रहा, समाज बदल गया। राजा-महाराजा, श्रेष्ठि-महाजन सामंत जमींदार, कलापारखी गुणग्राही रईस सब चले गए, और गायव हो गई वो गानेवालियां, अप्रतिम लाजवाब गायिकायें, जिनके दम पर जलूसा था बुढव़ा मंगल। आगे जाकर मेले में अपराध व अश्लीलता बढ़ने से काशीराज सहित बहुत से लोग, रईस व सम्मानित लोग मेले में आने से कतराने लगे। राजा और सामंती युग की समाप्ति के साथ इस मेले का स्वरूप भी बदलता गया और काशी का ये आइना धुंधला पड़ता गया। "ऐसा न समझे कि बुढ़वा मंगल कोई सामंती उत्सव मात्र था नहीं उसमें पूरा बनारस शामिल होता था। भले सजावट बजड़े गायिकायें राजे-रईस लाते रहे हो...आज सर्वोपरि बात यह है कि गर्दिशे-दौरा में बनारस की मस्ती खो गई है होली तो होली है और रंग बदरगं हो चुके हैं कैसा था यह अद्वितीय जीवन शैली का परिचायक, काशी की साहित्य संगीत परम्परा का मानदण्ड, काशी का दर्शन और कला यज्ञ। गौर से देखेंगे तो यह सर्व धर्म समन्वय का मेला था।''[20]

महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह के समय बुढ़वा मंगल को सर्वाधिक महत्व प्राप्त हुआ था। बुढ़वा मंगल के मेले में तवायफ़ों की प्रधानता रहती थी। संगत पर हमेशा पुरूष कलाकार रहते थे। उन दिनों बनारस (काशी) की गायिकाओं में मैना बाई, विद्याधरी बाई, हुस्ना बाई, मुश्तरी बाई, बड़ी मोतीबाई इत्यादि इन बुढ़वा मंगल के महफ़िलों की जान थी। इन गायिकाओं का स्वर सुमधुर होने के साथ-साथ इतना तेज था कि दूर-दूर तक सुनाई देता था। वयोवृद्ध श्रोताओं के अनुसार इस मेले में राम नगर किले के नीचे जब बड़ी मोती बाई, मैना बाई जैसी गायिकायें टीप भरती थीं। दशाश्वमेघ, शीतला मंदिर दरभंगा घाट, चौसठ्ठी घाट तक सुनाई देता था। जिसे सुनकर पहचाना जा सकता था कि कौन गायिका गा रही है। इस तरह किसी पटेले पर विद्याधरी बाई का, किसी पर मैना बाई का तथा किसी पर बड़े रामदास जी का गायन कार्यक्रम होता रहता था, और श्रोताओं की भीड़ उमड़ती जाती थी। ''बुढ़वा मंगल की इस महफिल में गायिकायें ठुमरी, दादरा, होरी तथा चैती गायन का कार्यक्रम प्रस्तुत करती थीं। सर्वप्रथम द्रुत ख्याल प्रस्तुत करने के बाद अन्त में गायिकायें चैती गाती थीं। इन गीतों के भावों पर नृत्य का संयोजन रहता था। दशाश्वमेघ घाट पर राय बटुक प्रसाद का बजड़ा सजता था और उस पर तवायफों की रानी हुस्ना बाई की महफ़िल जमती थी। हुस्ना बाई के

गले में ऐसा जादू था कि उनके बारे में कहा जाता है कि जब वह टीप लगाती थी तो वह रामनगर के किले से टकराकर वापस लौटती थी। इतना दम उनके गले में था।21 कमल नयन जी अपनी पुस्तक 'बनारस तेरे रंग हजार' में लिखते हैं- "बनारस के रईसों का एक अनोखा मेला होता था- बुढ़वा मंगल"। मेला चैत के महीने में मंगल के दिन आरम्भ होता था। इस मेले से सम्बन्धित कुल चार मेले होते थे, यानि मंगल, दंगल, जंगल और झिलंगा। ज्ञान की नगरी में ज्यों ज्यों विज्ञान का प्रवेश होने लगा, त्यों-त्यों बनारस की पुरानी परम्परा चरमराकर टूटती चली गई। स्वाधीनता आन्दोलन के प्रथम चरण सन् 1921 में ही काशीवासियों का विश्वविख्यात मेला बुढ़वा मंगल दम तोड़ने लगा। आजादी हासिल होते-होते यह मेला कई बार बन्द हुआ और शुरु हुआ। अब सिर्फ नाम की ही चर्चा होती रहती है।[22] काशी के इस अनूठे जलोत्सव के सन्दर्भ श्री गजेन्द्र नारायण सिंह लिखते हैं कि, "बनारस में संगीत के दो खास जलसे होते थे - गुलाब बाड़ी और बुढ़वा मंगल। इन दोनों जलसों पर जो महफिलें आयोजित होती थीं, वे उत्कृष्ट संगीत और संस्कृति की परिचायिका होती थी इन महफ़िलों में मौसुकी की दिलकश बानगी तो देखने सुनने को मिलती ही थी, तबियतदारी और तमीजदारी भी अनुकरणीय होती थी।"[23] नावों के बजरे पर गंगा की लहरों पर तैरती इन महफ़िलों के सन्दर्भ में लिखते हैं- "बनारस में बुढ़वा मंगल के अवसर पर गंगा में नावों के बजरे पर जो महफिलें सजती, उनकी निराली छटा अलग ही होती थी काशी नरेश के अतिरिक्त बनारस के अनेक रईस भी इस जलसे में शामिल होते थे। बनारस का कोई ऐसा रईस नहीं था जो पटेला न पटवाता हो... बजरे या पटेले की सजावट से ही उनकी रईसी का अनुमान लगाया जाता था। कुछ रईस तो ऐसे थे जो इन महफ़िलों पर लाख रुपये से भी अधिक खर्च कर डालते थे। बुढ़वा मंगल नियराय रहल हौ" गाजीपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर और यहाँ तक कि पटना से नौकायें आती... जिस रगं से पटेला सजता सब साज-सामान भी उसी रंग का होता, दूसरा पटेला दूसरे रंग में सजता। इस तरह रंग-बिरंगे पटेलों से गंगा पर एक इन्द्रधनुषी छटा बिखर जाती। जिस अदा से इन बजरों पर बने संगीत मंडपों का साज सिंगार होता, उसके क्या कहने। रंग-बिरंगे बजरे और रसिक श्रोताओं के जमघट से लगता कि अलकापुरी आकाशगंगा से उतर कर काशी की गंगा पर तैर रही हो।[24]

'पटेले' यानि बड़ी नावं जिसमें विस्तृत सपाट फर्श होता है। ऐसी तीन-चार नावों को जोड़कर महफ़िल के लिये फर्श तैयार किया जाता था, जिसे 'कच्छा' कहा जाता था। इन्हीं फर्श पर साज के साथ ही शाही अन्दाज में इन तैरती महफ़िलों की सजावट होती थी। बनारस के श्रेष्ठ गायक व गायिकाओं को पेश करने की जहाँ होड़ लग जाती वहीं उनकी उत्कृष्टता की परख भी होती। काशी नरेश का 'घुड़दौड़' बजरा सर्वश्रेष्ठ होता जिसमें आठ दस शानदार पटेले साथ में जुड़े होते। इन सांगीतिक जलसों में तब माइक्रोफोन नहीं होता था। बड़ी मैना सरीखी गायिकाओं की आवाज सुरीली होने के साथ-साथ इतनी बुलंद व पाटदार होती थी कि वह रामनगर में 'घुड़दौड़' पर सुर छेड़ती तो आवाज दशाश्वमेध तक जाती अथवा सुनाई पड़ती। इन महफिलों में एकल प्रस्तुति एवं युगलबंदी दोनों ही होती जिसमें साथ-संगत, लड़त-भिड़ंत और लाग-डांट देखते सुनते बनती थी। जुगलबंदी जिसे 'गजरा' कहते थे तथा जब चार-पांच गायिकायें एक साथ पेश होती तो उसे झूमर कहा जाता। गीत-संगीत की इस निरंतरता में रात कब बीत जाती, पता ही नहीं चलता था। पूरी रात काशीवासी रतजगा करते और नौका नगरी में ही रात बिताते।[25]

कला, संस्कृति व व्यापार के बीच पुराना और स्थायी सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे को सीधे-सीधे बढ़ावा देते हैं, जो भी सांस्कृतिक केन्द्र रहे हैं, चाहे वे दिल्ली, लखनऊ या बनारस हो, व्यापार से उनका निकट का सम्बन्ध रहा है। आर्थिक समृद्धि व गतिविधियों ने शासकों, सामन्तों, रईसों को प्रेरित किया, कलाओं के संरक्षण व पोषण के लिये तथा इनके संरक्षण, पोषण व कलाप्रियता ने सांस्कृतिक गतिविधियों को बेहद् प्रभावित किया। नदियों के किनारे अथवा गंगा किनारे लगने वाले उत्सव व मेले व्यापार का एक हिस्सा थे। जार्ज मिशेल ने लिखा है "नगरों में होने वाले उत्सव प्रायः बड़े रोमांचक होते

हैं और उनसे व्यापार क्षेत्र को भी लाभ पहुँचता है।"[26] मेलों-उत्सवों आदि पर लगाने वाले मेले अपने साथ फुटकर दुकानदारों के लिए भी आर्थिक अवसर लेकर आते थे। विभिन्न वर्गों के लोग इन अवसरों का इंतजार करते क्योंकि ये अवसर उनकी रोजी रोटी का माध्यम होते थे। बुढ़वा मंगल के मेले में घाटों पर जाने वाली सड़कों के दोनों ओर दुकाने लगती-ठंढई, लस्सी, शर्बत, बड़े-बड़े शीशे वाली लकदक करती पान की दुकाने, नफीस गज़रे वाले, जायकेदार कचौड़ी, मुँह से लार टपक जाए ऐसे मगदल और मोतीचूर की सौंधी महक से सारी सड़के और घाट गमकने लगते, 'फुन्नीदाना' 'चनाचोर गरम' वाले चीजें बेचने के लिए सुरीली तान छेड़ते। इतना ही नहीं, हलवाई और तमोली भी नावों पर अपनी दुकान सजाकर चलते।"27 इन नौकाओं पर पूरा बाजार सज जाता था। एक नौके पर ठंडई, रबड़ी-मलाई, पूड़ी-कचौड़ी, कुल्फी, मिठाईयों के विधि प्रकार, पान, गजरा, खेल-खिलौने, हलवाईयों की दुकानें विविध व्यंजनों से नौकाओं पर पट जाती। हर बजड़े पर संगीत नृत्य की महफिलें लगती और जिस नाव पर महफिल जमी कि सभी नौकाएँ उसमें बंधने लगी। नाच, तमाशा, रोशनी सब मिलकर इस मेले को रौनक से भर देते थे। बनारस मे जब 'बुढ़वा मेला' लगता तो लोग दरू -दूर से इस मेले को देखने आते थे। साज-श्रृंगार, खाने-पीने की वस्तुओं से लेकर सभी वस्तुओं की छोटी-बड़ी दुकानें सज जाती थीं। आज भी सावन का मेला-गंगा महोत्सव, रामलीला आदि के अवसर पर सजने वाली दुकानें मेले का मुख्य आकर्षण होती हैं। बड़ा ही सुहावना दृश्य होता था, उस मेले का। रंग बिरंगे झाड़ फानूस की रौशनी में गंगा का निर्मल जल रंगीन बन जाता था। बजड़ों पर लगा यह मेला तीन दिनों तक इस घाट से उस घाट तक घूमता रहता था। सचमुच बुढ़वा मंगल अपने ढंग का अनूठा व निराला मेला था।

परम्परा किसी भी देश, समाज, जाति एवं कुल को ऐसी मजबूत कड़ी में जकड़ लेती है जिसे तोड़ना बहुत कठिन है। भारतीय परम्परा बहु-आयामी सांस्कृतिक विधाओं का ही अंग है जो अलिखित होते हुये भी इतनी समृद्ध है कि इसकी उपेक्षा कर अस्तित्व में बना रहना सम्भव नहीं। असीमित विभिन्नतायें होते हुये भी इसकी सांस्कृतिक एकता ने इसे विशिष्ट रूप प्रदान किया है। बुढ़वा मंगल का यह मेला किसी धर्म, जाति अथवा वर्ग विशेष का नहीं था। इस मेले में हिन्दु मुस्लिम के साथ ही समस्त धर्मों, जातियों व वर्गों के लोग सम्मिलित होते थे। गरीब-अमीर छोटा-बड़ा, स्त्री-पुरुष सब महादेव के विवाह के भागीदार बनते। देखा जाये तो यह सर्व धर्म समभाव और समन्वय का मेला था। अपार जनसमूह की गहमा गहमी और आनन्द के वातावरण की सृष्टि के लिये यह मेला 19वीं सदी के आरम्भ का प्रसिद्ध मेला रहा। रईसी बढ़ी और जीवन के मूल्यों में परिवर्तन आया। इसकी झलक श्री हर्षकृत नैषध चरित में मिलती है, जिसमें वाराणसी को विलास और भोग्य का भी अनुकूल स्थान माना है। फलतः श्रृंगार, संगीत, रूपहाट और उसका उच्छवलित वैभव महामेला बुढ़वा मंगल में मिला।

श्री प्रभुनारायण सिंह (काशी नरेश) ने इस बुढ़वा मंगल के मेले के लिये दो नौकायें तैयार करवाई थी- 'मोरपंखी' और 'घुड़दौड़'। महाराज उदित नारायण के बुढ़वा मंगल में 'सोनमुखी' नौका तैरती थी। बुढ़वा मंगल के मेले में 'मोरपंखी' और 'घुड़दौड़' दोनों नौकायें, रामनगर किले से श्रेष्ठ गायिकाओं के स्वरों पर लहराती, जब दशाश्वमेध घाट की ओर बढ़ती तो लगता जैसे सजे-धजे बारातियों के बीच नौका आ गया। उन दिनों भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रतिभा ने इस मेले को एक नई कलात्मकता प्रदान की। भारतेन्दु नाटककार, कवि, लेखक तो थे ही अच्छे संगीतज्ञ, गायक, वादक, नर्तक के साथ ही कला-प्रेमी भी थे। उनके बजड़े की सजावट अनूठी, काव्यमयी होती थी। हर रईस का अपना बजड़ा होता, उसे सजाने की होड़ लगती, और हर बजड़े पर एक से एक कलाकार होते थे। अब तो कान कहानी सुनोई करै- वाली बात है। कहते हैं, जब हुस्ना दशाश्वमेध घाट के सामने बजड़े पर गाती तो उसकी टीप रामनगर किले से टकराती थी। कैसी रही होगी वह गंगा जिसके वक्ष पर उन रातों में 'स्वरगंगा की इतनी धारायें प्रवाहित होती थीं।'[28]

वास्तव में देखा जाय तो गंगा की लहरों पर अनवरत कई दिनों तक चलने वाला 'बुढ़वा मंगल'

का मेला काशी के रससिक्त उदारमना रईस और कलाकारों, गायक-गायिकाओं की सांस्कृतिक एवं सांगीतिक परिकल्पना है जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। बनारस में रहने वालों के हृदय में जो उल्लास था, उसकी पूरी अभिव्यक्ति बुढ़वा मंगल का संगीत मेला था। इस मेले में नाचने-गाने-बजाने वालों की इतनी बड़ी संख्या एकत्रित होती थी कि इतने बड़े गुणी संगीतज्ञों के बीच अपना अलग रंग जमाना भी अत्यन्त स्पर्धात्मक कार्य रहता था। इस अग्नि परीक्षा में बनारस की गणिकाओं ने बनारस का नाम उज्ज्वल किया। इस मेले में पहले दिन होली, दूसरे व तीसरे दिन चैती, घाटों और चैता गौरी का ही बोलबाला रहता था। अनेक मायनों में यह मेला अतुलनीय था। गंगा की लहरों पर खेलती बड़ी-बड़ी माल ढोने वाली नौकाओं (पटैले) पर यह मेला तथा संगीत की महफिलें सजती। बताते हैं कि पहली रात बुढ़वा मंगल का मेला पंचगंगा घाट पर जमता था। दूसरी रात दशाश्वमेध के बगल में घोड़ा घाट (वर्तमान राजेन्द्र प्रसाद घाट) पर जमता था। तीसरी रात यह मेला शिवाला घाट से आरम्भ होकर, भोर होते होते गंगा के उस पार राम नगर किले के नीचे घाट पर जाकर जम जाता था।[29] शिव कुँअर बाई, विद्याधरी बाई, छोटे रामदास तथा बाई साहेब हुस्ना बाई, महाराज बनारस के पटैले 'मोरपंखी' व 'घुड़दौड़' की महफिल की शोभा बढ़ाते थे। भोर में भैरवी का दादरा - 'बोले बोले चिरैया ब जवासी... ' गायक हुस्ना बाई इस बुढ़वा मंगल के मेले को सम्पन्न करती थी। जेम्स प्रिंसेज ने अपनी पुस्तक में बुढ़वा मंगल का एक चित्र दिया है। पुराने लोग बताते हैं कि इस मेले में नौकाओं की इतनी संख्या होती थी कि गंगा पार आने जाने के लिए नाव पर ही पैर रखकर पार कर लेते थे। इस मेले के आयोजन की एक विशेषता रही है कि इसके लिए कोई आयोजन समिति नहीं थी तथा कोई शासकीय आदेश नहीं था। बनारसियों के सांस्कृतिक अभिरुचि की स्वतः स्फूर्त परिणति बुढ़वा मंगल का मेला था। पिछले कुछ दशकों से बनारस में जो बुढ़वा मंगल का मेला सरकारी आदेश व समिति के तहत हो रहा है उसमें ना तो वह संगीत है ना ही वो सजावट और ना ही वो श्रोता है।

विश्व के अनके नगर किन्हीं न किन्हीं नदियों के किनारे अवस्थित है, किन्तु बुढ़वा मंगल, गुलाब बाड़ी एवं ऋतु परिवर्तन से सम्बन्धित अनेक उल्लासमय उत्सवों के मनाने की अभिनव व मनमोहक परिकल्पना काशी में ही साकार हुई, जिसमें यहां के कलाकारों एवं रईसों ने भरपूर सहयोग देकर बहुत वर्षों तक ऐसे आयोजनों की परम्परा को सक्रिय बनाये रखा और काशी को, प्रत्येक सुन्दर पलों को, सानन्द संगीतमय सरसधारा की तरह गतिमान और जीवन्त रखा।[30] श्री गजेन्द्र नारायण सिंह 'बुढ़वा मंगल' की अनोखी परम्परा को याद कर लिखते हैं- "बनारस के राजा श्री प्रभुनारायण सिंह की 'बुढ़वा मंगल' में रुचि नहीं रही, इस तरह धीरे-धीरे यह पुरातन परम्परा समाप्त हो गई। इन महफ़िलों के स्वरगंध से फ़िजा में तरावट और ताजगी रहती थी, जो अब सुहाना सपना होकर रह गया है - गंगा की तरंग, संगीत का रंग और भंग की उमंग का स्मरण करके दिल कचोट जाता है कि कहा गये पुरअसर मिजाजदारी से लबरेज वे सुरीले रसीले लम्हें।"[31]

बुढ़वा मंगल का मेला वास्तव में हमारे सांस्कृतिक मंगल बोध का मेला था। कभी बुढ़वा मंगल वार्षिक कुम्भ की पहचान बनता था- एक कुम्भ जिसमें हमारी संस्कृति, पारम्परिक, साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक छवियों का एक अद्‌भुत संगम जुटता था। बहुत दूर-दूर से लोग इस मेले में आते थे। यद्यपि मेला राजाओं, सेठो साहूकारों और प्रतिष्ठित रईसों की ओर से लगाया जाता था पर मेले में आने की अनुमति सभी को थी। शहर के अमीर-गरीब सभी इसमें शामिल होते। साथ ही गांव-देहात के भी हजारों लोग अपने-अपने खेल तमाशे, दुकानदारी, नाटक-नौटंकी और खेलकूद के प्रतियोगी लेकर इस मेले में शामिल होते। मेला सबके लिये होता था, किसी एक के लिये नहीं।

19वीं, 20वीं सदी में पर्वों-उत्सवों के शहर बनारस की परम्परा से जुड़ा एक अद्वितीय आयोजन रहा है- बुढ़वा मंगल का मेला। यह मेला अपने में बनारस की खास अंदाज व मिजाज को समेटे हुए है। (आज भी अस्सी घाट पर प्रायः यह मेला, मेले के नाम पर सांगीतिक आयोजन बजड़े पर हो जाता है परन्तु प्राचीन बुढ़वा मंगल का मेला कहीं खो गया

है। परम्परायें जीवन्त तो रहती हैं परन्तु नये युग संदर्भ में नये स्वरूप में) कहते हैं कि कभी अख्खड़-फक्कड़ जीवन दर्शन को जी रही मगन मस्त नगरी काशी के दूसरे पक्ष रंग विलास को जीवन्त छवियों के रूप में प्रस्तुत करने वाले जल उत्सव बुढ़वा मंगल, जो अब बस प्रतीक रूप में आयोजित होती है, की अपनी अनूठी संस्कृति एवं परम्परा रही है। वर्तमान में होने वाले इस बुढ़वा मंगल मेले के अस्तित्व से नयी पीढ़ी अनजान है। वयोवद्ध महंगी माँझी की आंखों में उदासी उतर आती है। कहते हैं- "आज इ दिन आ गयल कि उ बुढ़वा मंगल के दंगल भुलाय गइलन लोग, जेकर मस्ती विलायत तक गर्दा उड़वलस"[32] अपने बाप-दादाओं से बुढ़वा मंगल की रंगीनी की कई कहानियाँ सुन चुके महंगी माँझी की बातें केवल कपोल कल्पित नहीं है। ऐतिहासिक दस्तावेजों के अनुसार 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक बुढ़वा मंगल का मेला पूरी तरह जवान था। अंग्रेजी हुक्मरानों को भी यह मेला सदैव लुभाता रहा। उन्हें बार-बार बनारस बुलाता रहा। यह वह दौर था, जब लन्दन की बरमिंघम पैलेस के गलियारों तक इस उत्सव के वैभव की गूंज थी। दुनिया के सबसे प्राचीन शहरों में शुमार वाराणसी को महसूस करने का असली तरीका नौका विहार ही है। सैलानियों के साथ ही स्थानीय निवासी भी नावों में सवार होकर गंगा किनारे बनो 84 घाटों को देखते हैं तथा इस प्राचीन शहर की खूबियों और खासियत को पहचानते हैं। गंगापुत्रों के जीविकोपार्जन का यह ठोस आर्थिक आधार भी है, उनकी रोजी रोटी है। इसीलिए ये गंगा को अपनी माँ मानते हैं, गंगा इनके लिये सर्वाधिक पूज्य हैं, आदरणीय हैं जो इनके जीवन की रक्षिका हैं, तभी तो य॓ स्वयं को 'गंगापुत्र' कहते हैं। गंगा के प्रति इनकी गहरी आस्था है। प्रतीकात्मक रूप में ही सही संस्कृति विभाग ने इस उत्सव को जिन्दा रखा है। दुनिया का सबसे रंगीन उत्सव-बुढ़वा मंगल, बनारस की उत्सवों व परम्पराओं की जीवन्त प्रतीक है। उम्मीद है काशी वासियों को भविष्य में शायद इस परम्परागत उत्सव का जलवा एक बार पुनः स्थापित कर पायेंगे। गंगा की लहरों पर तैरती नौकायें और अबीर गुलाल से रंगे इस उत्सव की परम्परा गंगा की भांति अनवरत प्रवाहित हो- यही कामना काशीवासी करते हैं। आज भी गंगा की मध्य धारा में बजड़े पर संगीत की महफिल, चैत के कृष्ण पक्ष के दूसरे मंगलवार को सजती है। गायन-वादन की प्रस्तुति कलाकार करते हैं। काशी के इस इतिहास व संस्कृति को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से पिछले कुछ वर्षों से सरकार व प्रशासन के सहयोग से आयोजित किया जाने लगा है। काशी वासियों का आज भी यही मानना है कि - "एहि काशी नगरिया क कौने जोड़ नाहीं बा।" बहुत लोगों से इसे 'शासकीय पर्व' घोषित करने की मांग की है, ताकि जहाँ संस्कृति, परम्परा का संरक्षण हो, कलाकारों को मंच मुहैया हो वहीं मल्लाहों, केवटों की जीविकोपार्जन का स्रोत पुनः पुनर्जीवित हो। नावों पर सजने वाले इस मेले में केवटों व उनके नावों की भूमिका प्रमुख रूप से रही है। बजड़ों पर होने वाली इस परम्परागत मेले का सारा दारोमदार इन्हीं पर रही है। बजड़ों की मरम्मत से लेकर सजावट व पूरा शहर आबाद कर देने में इनकी मेहनत व लगन अतुलनीय है। 'बुढ़वा मंगल का मेला', जीवन का उत्सव था जिसके मूल में मंगल भाव था। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के दुःखों को अपनी गांठ में बांधकर हंसने गाने, नाचने को तैयार हो जाता।

बुढ़वा मंगल का मेला जो 19वीं 20वीं सदी का अनुठा मेला था, जो बाद में अनेक विसंगतियों के प्रवेश के कारण धूमिल होता गया और आज तो सिर्फ नाम ही रह गया है, गीत संगीत आज भी आयोजित होते हैं, पर नवीन रूप में, पुराना मेला तो कहीं खो गया।

संन्दर्भ

1. आचार्य बृहस्पति मिश्र-वैदिक चिन्तन और आधुनिक पर्यावरण विज्ञान, पृ.सं.-281, प्रकाशन राजस्थान, 2008
2. ऋग्वेद 7, 47, 4, ऋग्वेद - 10.64.9, ऋग्वेद - 6. 52.6, ऋग्वेद - 5.43.1
3. साल भर पर्व- विद्या बिन्दू सिंह, पृ.सं.-18-19, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003
4. सो काशी सेइअ कस न - भानूशंकर मेहता, पृ.सं.-1
5. प्रेमधन-बनारस का बुढ़वा मंगल, प्रेमधन सर्वस्व भाग-2,

पृ. सं. 105-131
6. विश्वनाथ मुखर्जी-यह बनारस है, द्वितीय खण्ड, पृ. सं. 61
7. www.jagran.com
8. काशी की संगीत परम्परा- पं. कामेश्वर नाथ मिश्र, पृ. सं. 56
9. चैत की निदिया में तैरती यादों की महफिलें-सो कासी सेइअ कस न- डॉ. भानू शंकर मेहता पृ. सं 34-35 पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1999
10. चैत की निदिया में तैरती यादों की महफिलें-सो कासी सेइअ कस न- डॉ. भानू शंकर मेहता पृ. स. ं 45 पिलग्रिम्स प्रकाशन, वारणसी, संस्करण 1999
11. बना रहे बनारस-विश्वनाथ मुखर्जी, पृ. सं. 105-106
12. श्री कृष्ण देव उपाध्याय-लेख-काशी की लोक संस्कृति पुस्तक-भोग-मोक्ष समभाव-वैद्यनाथ सरस्वती, पृ. सं. 116
13. शिवनन्दन सहाय-'हरिश्चन्द्र' पृ. सं. 24
14. संगीत मासिक पत्रिका-उपशास्त्रीय संगीत अंक, जनवरी 2003 लेख-ठुमरी बिन नहीं आवत चैन-शम्भुनाथ मिश्र, पृ. सं. 58
15. शोध प्रबन्ध-दीप्ती बनर्जी, पृ. सं. 46
16. ये कोठे वालियां- अमृत लाल नागर पृ. सं. 121-122
17. चैत की निदिया में तैरती यादों की महफिलें-सो कासी सेइअ कस न- डॉ. भानू शंकर मेहता पृ. सं. 28-29 पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1999
18. फागुन के दिन चार-बेचन शर्मा उग्र जिन्होंने इस मेला को देखा था और अनूठी शैली में इसका वर्णन किया है।
19. भानूशंकर मेहता-सो काशी सेइअ कस न, पृ. सं. 54-55
20. चैत की निदिया में तैरती यादों की महफिलें-सो कासी सेइअ कस न- डॉ. भानू शंकर मेहता पृ. स. ं 45 पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1999
21. अवकाश पत्रिका, वर्ष-1985, पृ. सं. 11
22. बनारस तेरे रंग हजार-कमल नयन, पृ.सं.-100, प्रकाशन, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ प्रथम संस्करण, 2011
23. पत्रिका- धरोहर काशी संगीत समाज, पृ.सं.-94, लेख-श्री गजेन्द्र नारायण सिंह
24. वही पृ.सं. 94-95
25. वहीं, पृ.सं. 95-96
26. जार्ज मिशेल (सम्पा.) ज्मउचसम ज्वूदे वि ज्ंउपसदंकन मार्ग प्रकाशन, मुम्बइ ं 1999, पृ.सं. 13
27. महफिल-गजेन्द्र नारायण सिंह पृ. सं. 244
28. सो काशी सेइअ कस न - डॉ. भानूशंकर मेहता, पृ. सं. 20
29. संगीतमय बनारस - डॉ. वनमाला पर्वतकर, पृ.सं. 265, प्रकाशन- शारदा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वर्ष 2012
30. अवकाश पत्रिका, 15 नवम्बर, 1985 अंक
31. पत्रिका- धरोहर काशी संगीत समाज, पृ.-96 लेख-श्री गजेन्द्र नारायण सिंह
32. जागरण हिन्दी न्यूज, 16 मार्च, 2015

लोकधुन का समृद्ध संसार-लोकगीत

डॉ. आभा कुमारी

लोक संगीत आदिकाल से ही जनजीवन का अभिन्न अंग रहा है। लोक संगीत प्रकृति की अनूठी देन है। फलस्वरूप यह प्रकृति के सन्निकट है। आदिमानव ने शताब्दियों तक प्रकृति को अति निकटता से देखा हैं। प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुरूप अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा जीवन की अनेक विसंगतियों का अनुभव अनजाने में ही करता रहा है। प्राकृतिक सौन्दर्य ने आदिमानव के मन में जिज्ञासा उत्पन्न की। फलस्वरूप उसे रंजकता की अनुभूति हुई। ज्ञानेद्रियों जाग्रत हुई और सौंदर्यबोध की कल्पना की उत्पत्ति हुई। आदिमानव पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि के स्वर से परिचित हुआ। अनुकरण की प्रवृति जाग्रत हुई और उनके स्वरूप को मिलने का प्रयास करने लगा। उनकी उड़ान उनकी चाल तथा गति का अनुकरण करने लगा। पवनवेग से झूमती, थिरकती हुई डालियों को देखकर स्वयं भी झूमने और थिरकने लगा। इसे झूमने थिरकने आदि से उसे लय और ताल की सुन्दरता अनुभूति हुई नदियों और झरनों की कल-कल ध्वनि से उसके होठों में बोल पैरों में थिरकन और शरीर में लचक प्रस्फुटित हुई। वह बुदबुदाने लगा कुछ गाने लगा, बजाने लगा एवं विभिन्न गतिशील अंगों का संचालन करने लगा।

''आदिम उल्लासमय संगीत को ही लोकगीत कहते हैं। (The permitve spontaeous music has been called folk Song)[1] जनसाधारण के स्वप्न और आनन्द, उद्देश्य और कल्पना सब कुछ लोक संगीत में ही मुखरित होता है।[1] शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत एक वृक्ष की दो शाखा है। संगीत के इन दोनों प्रकारों के विकसित दिशाए स्वतंत्र तथा दोनों ही प्रौढ़ संगीत शैलियों के दो विकसित स्वरूप है। शास्त्रीय संगीत स्वतत्रतापूर्वक विचरने का अधिकारी नहीं है। लोक संगीत का प्रेरणा स्रोत जन मानस है। उनका विकास और संचरण क्षेत्र अधिकार विस्तृत है। शास्त्रीय संगीत के प्रयोग और परीक्षण के लिए शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है तथा विशिष्ट अभ्यास क्रम से गुजरने की जरूरत है, परन्तु लोक संगीत के प्रयोग के लिए किसी अभ्यास तथा ज्ञान की आवश्यकता नहीं हैं। शास्त्रीय संगीत वैयक्तिक साधना का प्रतीक है तथा लोकसंगीत सामुदायिक साधना का।

संगीत रचनाएँ जब प्रौढ़ता को प्राप्त होती है। तभी उस पर शास्त्र बनते हैं। पहले रचनाएं होती हैं। उनमें अनेक वाद विवाद, प्रकार, उपप्रकार, क्रिया-प्रक्रियाएं चलती हैं, तब शास्त्र दिशा-निर्देश करता है। प्रारंभ में शास्त्र, सरल सुगम तथा संक्षिप्त होता है। बाद में रचना क्रम के विस्तार के साथ वह भी पेचीदा होने लगता है। अनेक नियम-उपनियम, धारा- उपधाराओं की सृष्टि होती है। शास्त्रीय संगीत यदि स्वर प्रधान होता है तो लोकसंगीत शब्द प्रधान होता है। लोकसंगीत का स्वरूप सहज, स्वच्छन्द एवं लयगर्भित होता है। शास्त्रीय संगीत जटिल एवं शास्त्रोक्त होता है। किन्तु सांगीतिक तत्वों के आधार पर दोनों में पास्परिक सम्बन्ध की अनुभूति विद्यमान है।

लोकधुनों में शास्त्रोक्त रागें छुपी हुई है। शास्त्रीय नृत्य में लोक तत्वों का व्यापक प्रभाव है। शास्त्रीय पद्धति से गाये जाने वाले अनेक गीतों में लोक बोली

पूर्व शोध छात्रा, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि., दरभंगा

के शब्द होते हैं, ऐसे ही शब्द लोक गीतों के आधार स्तम्भ होते हैं। लोकगीतों में स्वर व ताल रचना का सीधा महत्व नहीं होता है। किन्तु रचनाकार शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से रचना की युक्ति का निर्माण कर लेता है।

लोकगीत मानव हृदय की प्राकृत भावनाओं की तन्मयता की तीव्रतम अवस्था की गति है। जो स्वर और ताल को प्रधानता न देकर लय या धुन प्रधान होते है।''[2] लोकसंगीत में स्वर एवं लय रचना की प्रधानता नहीं होती है, किन्तु रचना करने योग्य परिस्थिति अवश्य होती है। तभी तो शास्त्रीय संगीत के ज्ञाता किसी भी लोकगीत की स्वर एवं लय रचना करने में सफल हो जाते हैं। यह लोकसंगीत एवं ाास्त्रीय संगीत का आंतरिक पारस्परिक संबंध है। लोक संगीत में भी स्वर एवं लय विशेष पर ठहराव, ठहराव का उचित समय, न्यास स्वर संगीत आदि समाहित होते हैं। आरोह- अवरोह का उपर्युक्त सामंजस्य होता है। जो दोनों के पास्परिक संबंध का बोध करता है। आकर्षण, सम्मोहन, विविधता सौंदर्य रोचकता एवं रंजकता आदि गुण संगीत के प्राथमिक तत्व हैं जो दोनों प्रकार के संगत में विद्यमान होते हैं। इस दृष्टि से भी दोनों में पारस्पकि है। लोकसंगीत का वातावरण उत्साह उमंग और तन्मयता से सराबोर पाया जाता है। कीर्तनियों के समान, लोकसंगीत के गायकों का भी लक्ष्य तल्लीनता और आनन्द की सृष्टि ही है। इसलिए लोकसंगीत मर्म को स्पर्श करता है और हृदयतंत्री को झंकृत करता है।

लोकसंगीत भी मनुष्य की भावात्मक अभिव्यक्ति के रूप में जनमानस में विराजता गया और सतत संचरण व प्रयोग से निर्दिष्ट तथा सुव्यवस्थित स्वर-धारा के रूप में प्रस्फुटित हुआ। विशेषज्ञों ने इन स्वर-रचनाओं के ऐसे अनेक सार्थक चयनों का पता लगा, जो विशिष्ट भावात्मक स्थितियों में मनुष्य की व्रिाटि सांस्क तिक पृष्ठभूमि के आधार पर जुड़ते मिलते हैं। उन्हें विशिष्ट रागों की संज्ञा दी गयी और यह निश्चित किया गया कि अमुक-अमुक स्वरों के चयन से एक विशेष प्रकार की धुन का जन्म होता है। इन्हीं धुनों का नामकरण किया गया और उनका एक विशिष्ट शास्त्र धीरे-धीरे विकसित हुआ। उन धुनों का विश्लेषण पंडितों ने अपने-अपने ढंग से किया। कई निष्कर्ष निकले, कुछ निश्चित परिणामों पर पहुँचे तथा राग-रागिनियों की सृष्टि भी हुई। लोकगीतों के स्वर-चयन में शास्त्रोक्त राग-निर्धारण न पहले ही था ओर न आज ही है। उनमें केवल रागों का आभास मात्र रहता है। उसी उभास के आधार पर शास्त्रीय संगीत का विस्तार-पक्ष सक्रिय होता है। मूल स्वर-चयन को स्वर-विस्तार के समय वादी, सम्वादी, विवादी, आरोही, अवरोही आदि के कड़े नियमों में बाँधकर शास्त्रकारों ने उन्हें विशिष्ट दशा दी तथा उन्हें रागों के घेरे में बाँध दिया। इस तरह अनेक लोकगीतों के परीक्षण से यह भली-भाँति ज्ञात होता है, कि उनकी स्वर-रचनाओं में स्वर चयन किसी रागात्मक तथा भावात्मक वृत्ति के आधार पर ही होता है, तथा उनका बीजरूप निश्चय ही शास्त्रीय रागों में निहित है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक लोकगीत का स्वर-चयन एक ही राग का द्योतक हो। रचयिताओं की मानसिक अवस्था के अनुसार अनेक रागों के आभास भी उनमें परिलक्षित होते हैं, जो कि आज भी विशेषज्ञों के अध्ययन के लिए बहुत ही दिलचस्प विषय बने हुए हैं।

''लोक संस्कृति लोक विश्वास एवं लोक परंपरा की रक्षा एवं निर्वाह करते हुए लोक जीवन अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों की स्फूर्त लयात्मक अभिव्यक्ति जिस माध्यम से करता है उसे लोकगीत कहते है।''[3] लोकसंगीत उस सुरसरि के समान है, जिसका लक्ष्य लोक कल्याण है तथा लोकसंगीत का प्रयोजन भावों की सरलतम एवं मधुरतम अभिव्यक्ति है। शास्त्रीय संगीत अथवा पक्का गाना वह है, जो शास्त्रीय नियमों के अन्तर्गत प्रचलित है। इसके अन्तर्गत ख्याल, धुवपद, धमार, ठुमरी, दादरा आदि शैलियाँ आती है। जबकि लोकसंगीत तो शास्त्र के बंधनों से सर्वथा मुक्त है। लोकसंगीत तो उसी को कहा जा सकता है, जिसका स्वरूप लोकरंजनकारी है। लोकसंगीत की परिभाषा के पीछे सभी कुछ स्पष्ट कह दिया गया है। अतः लोकसंगीत, संगीत का लोक पक्ष हुआ और व्यक्ति विशेष द्वारा शास्त्र में बांधने के कारण वह शास्त्रीय संगीत का पक्ष है।

दोनों ही पक्ष एक दूसरे से प्रेरणा ग्रहण करते चले आ रहे हैं। वेदों के संगीत को सुनने से पता लगता है कि उस समय लोक संगीत और शास्त्रीय

संगीत को सुनने से पता लगता है कि उस समय लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत में कोई भी भेद नहीं था। भेद तो समाज के सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर के कारण हुआ। शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत दोनों को एक ही वृक्ष की दो शाखाएँ समझा जाना चाहिए। शास्त्रीय संगीत व्यक्ति एवं शास्त्र के कारण बना शास्त्रीय नियमों में बंधा होने के कारण वह स्वतंत्रतापूर्वक विचरने का अधिकारी नहीं जबकि लोक संगीत जन-मानस व जनमन रंजन के कारण बना। लोक संगीत शास्त्रीय संगीत से परिष्कृत नियमों से दूर आकाश के स्वच्छंद पक्षी की भाँति स्वर और लय में चल पंखों पर उड़ता हुआ अपने स्वाभाविक उतार चढ़ाव से श्रोताओं का मन मुग्ध कर देता है।

जबकि शास्त्रीय संगीत में किसी राग के प्रस्तुतीकरण हेतु उससे लगने वाले वादी-सम्वादी लय, ताल, समय सम्बंधी शास्त्रीय नियमों का पालन अनिवार्य है। शास्त्रीय संगीत में स्वर, ताल, लय को खोजना नहीं पड़ता। अतः ये सभी स्वतः ही साध्य है।

लोक-संगीत में अकेले गाने से कहीं अधिक सामूहिक ढंग से गाने के महत्व का पता चलता है और उसमें स्वर की अपेक्षा लय का भी कुछ अधिक प्रभाव मिलता है। उतर-बिहार में लोक-संगीत में प्रयुक्त होने वाले अवनद्ध अथवा घन वाद्यों में से ढोलक, खंजरी, झाँझ और करताल उल्लेखनीय है। अद्‌भुत विकास मिलता है। उसके पृथक् बोल होते हैं और कुछ ढोलक-वादक तो ऐसे मिलते हैं, जो तबले के बाज के सदृश ही ढोलक पर केवल लय व सरल ताल दिखलाना ही पर्याप्त होता है। यद्यपि यह कार्य भी अत्यन्त प्रभावशाली और रोचक ढंग से सम्पादित होता है। लोकगीतों में अधिकतर कहरवा, दादरा, खेमटा दीपचन्दी (चाचर) तालों के विभागों और ताली-खाली आदि से जो 'वजन' अथवा लय की चाल निर्मित होती है, वह कितनी सरल, सुग्राह्य और आकर्षक होती है। मनुष्य मात्र के हृदय में जो प्रधान भाव रहते हैं, उनकी अभिव्यक्ति में विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह नियम अटल नहीं है। इन तालों का प्रतिकूल रसों में भी प्रयोग मिलता है। किन्तु उपर्युक्त निर्णय अधिकांश प्रयोगों के आधार पर किया गया है। अधिक विलम्बित लय का प्रयोग लोकगीतों में नहीं होता, इसी से 'दीपचन्दी' ताल भी मध्य व द्रुत लय में ही प्रयुक्त होता है।[3]

शास्त्रीय संगीत का आधार राग तत्व है और प्रत्येक राग का एक व्यक्तित्व होता है, किन्तु सभी शास्त्रीय संगीतज्ञ यह स्वीकार करेंगे कि प्रत्येक राग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले असंख्य स्वर-समुदायो में से कुछ गिने-चुने ही ऐसे समुदाय होते हैं। जो बहुत ही मधुर एवं आकर्षक होते हैं।

लोकगीतों में अधिकतर सात शुद्ध स्वरों और दो विकृत-कोमल गांधार और कोमल निषाद-स्वरों का प्रयोग मिलता है। अर्थात् उनमें मुख्यतः बिलावल, खमाज और काफी ठाठों के स्वर लगते हैं। शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से भी इन ठाठों के राग अपेक्षाकृत अधिक सरल व सुग्राह होते हैं। कुछ गीतों में अन्य विकृत स्वरों का भी प्रयोग मिलता हैं। उदाहरणार्थ-कोमल धैवत और कोमल ऋषभ। इनमें भी कोमल ऋषभ का प्रयोग कोमल धैवत से कम मिलता है। तीव्र मध्यम-युक्त गीत तो कदाचित ही दो-चार मिलेंगे। किसी एक लोकगीत की स्वर-परिधि भी बहुत संक्षिप्त होती है, अर्थात् अधिकांश लोकगीतों में तीन, चार अथवा पाँच स्वर ही प्रयुक्त होते हैं। शास्त्रीय संगीत के प्रचार व विकास के साथ-साथ और ग्राम तथा नगर के पारस्परिक अधिकाधिक सम्पर्क होने के कारण अनेक स्थानों में लोकगीतों की स्वर-सीमाए बढ़ती जा रही हैं। फिर, सभी प्रांतों में लोकगीतों की स्वर-सीमाओं में भी अंतर मिलता है। कुछ प्रांतों में भी अब स्वर-सीमाएँ और स्वर-स्वेच्छा कुछ बढ़ रहा है। किन्तु, फिर भी हर प्रांत के लोक-संगीत में सरलता, स्वाभाविकता और संक्षिप्तता आज भी वर्तमान है। अधिकांश लोकगीत सप्तक के पूर्वांग में भी गाये जाते हैं, केवल उन्हें प्रभावशाली और स्पष्ट सुनाई देने योग्य बनाने के लिए उँचे स्वर का षड्‌ज मान लिया जाता है। उत्तरांग के स्वरों का प्रयोग भी अब क्रमशः बढ़ रहा है, परन्तु पूर्वांग के स्वरों की अपेक्षा उनका प्रयोग कम होता है।

द्रष्टव्य है कि लोक-धुनों में सरलता होने का यह तात्पर्य नहीं है कि उनमें गायन-क्रिया के सौंदर्य-वर्द्धक उपकरणों का पूर्णतया अभाव है। यह लोकगीत को गानेवाले व्यक्ति पर निर्भर है। ऐसे

अनेक गायक मिलते हैं, जो सरल-से-सरल धुन को गाते समय भी स्वभावतः अनेक प्रकार के खटके, मुरकियाँ और मीड़ का प्रयोग अनायास कर जाते हैं, जिन्हें शास्त्रीय संगीत प्रयत्न करने पर अपने कंठ से उत्पन्न कर पाते हैं। वास्तव में लोकसंगीत के अनेक प्रयोग शास्त्रीय संगीत के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं और यह सच है कि अनेक रागों का जन्म ही लोक-धुनों से हुआ है। जैसे आसावरी, माँड, झिझोटी, पहाड़ी आदि।[4] वर्तमान काल में तो लोक-संगीत पर भी शास्त्रीय संगीत का प्रभाव पड़ने लगा है और आशा की जा सकती है कि भविष्य में लोकसंगीत व शास्त्रीय संगीत का पारस्परिक आदान-प्रदान दोनों को ही अधिकाधिक धनी बनाता जाएगा। किन्तु, इस प्रक्रिया में सावधानी इस बात की रखनी अवश्यक यह है कि शास्त्रीय संगीत, लोक-संगीत के रोचक और प्रभावशाली प्रयोगों को लेकर अपने को अधिक मधुर और आकर्षक बनाए और विविधता बढ़ाए, परन्तु शास्त्रीय संगीत अपनी कलात्मकता को और लोक-संगीत अपनी सर्वग्राहिता एवं लोकप्रियता न छोड़े।

संदर्भ-सूची

1. डॉ. राधाकृष्णन, कथन, लोकसंगीत अंक, जनवरी 1966, सं लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय हाथरस (उ.प्र.) पृ.-38
2. शान्ति अवस्थी : सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अंक) सं.-2010, पृ.-37
3. उप्रेती डॉ. कुन्दनलाल : लोकसाहित्य के प्रतिमान पृ. -47
4. जोशी डॉ. शिवदयाल, लोकगीतों में रस-योजना, इन्दु प्रकाशन, पृ.-83

संगीत सम्प्रेषण के विभिन्न माध्यम

प्रगति

उत्तर भारतीय संगीत पद्धति का प्रचलन 13वीं शताब्दी के लगभग हुआ। आज भारतीय एवं यवनी मिश्रित संगीत को ही ''हिन्दुस्तानी अथवा उत्तर भारतीय संगीत कहते हैं। भारतीय संगीत को एक अविरल ध ारा ही उत्तर भारतीय संगीत है। उत्तर भारतीय संगीत वर्तमान में प्रचलित संगीत है। भारतीय संगीत का प्रचार-प्रसार और सम्प्रेषण तीनों काल में हुआ है। संगीत में संचार व सम्प्रेषण ही संगीत के विकास एवं संरक्षण के मूल है।

(क) प्राचीन काल में संगीत सम्प्रेषण

संगीत शिक्षण की परम्परागत पद्धति का प्रचलन भारत में प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। इस पद्धति में गुरू से शिष्य में संगीत शिक्षण सम्प्रेषित होता था। गुरू द्वारा शिक्षा का सम्प्रेषण एवं संगीत शिक्षण प्राचीन काल की मुख्य विशेषताओं में से एक है। जिस तरह वेद, स्मृति, दर्शन, उपनिषद, ध यान, योग, ऋचागान आदि का सम्प्रेषण गुरू के द्वारा शिष्यों-प्राणियों में किया जाता था, उसी प्रकार संगीत जो कि स्वयं में मौखिक एवं क्रियात्मक विद्या है का सम्प्रेषण गुरू मुख द्वारा ही किया जाता था और शिष्य उसे सीखता था। प्राचीन शिक्षण व्यवस्था या संगीत शिक्षण व्यवस्था आश्रम प्रणाली विद्या थी, जिसमें आश्रम व गुरू सम्प्रेषण के मुख्य बिन्दु होते थे।

नाट्य और संगीत सम्बन्धित ग्रंथ जो आज हमारे समक्ष लिखित रूप में विद्यमान है वह गुरू-शिष्य परम्परा जो कि मौखिक व गुरूमुखी थी की ही देन है। इसी परम्परा के कारण संगीत संवर्धित एवं सम्प्रेषित होता रहा और अद्यतन इसका संरक्षण संभव हो सका है।

वेद की ऋचाओं को जब गेय रूप देकर संकलित किया गया तो उसे 'साम-संहिता' की संज्ञा दी गई। साधारण रूप से वैदिक साहित्य में साम-प्रशिक्षण के 3 रूप प्रचलित होने के संकेत मिलते हैं -

1. पिता-पुत्र के रूप में।
2. गुरू शिष्य परम्परा के रूप में।
3. गुरूकुल में जाकर शिक्षा ग्रहण करने के रूप में।

पिता अपने पुत्रों को साम-प्रशिक्षण देकर यज्ञों में ले जाते थे, जहां वे अपने पिता द्वारा किये जाने वाले कर्म को सीखते थे। इस तरह सामों का संरक्षण व सम्प्रेषण हो जाता था। सुनकर सीखने की परम्परा के कारण ही संभवतः वेदों की 'श्रुति' कहा गया। सामगान में निपुण व्यक्ति यज्ञ कर्म के लिए विशेष रूप से आमंत्रित किये जाते थे। इस तरह इनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती थी, फलस्वरूप उद्गाता वर्ग में सम्मिलित होने की इच्छा रखने वाले स्वतः इन आचार्यों के पास प्रशिक्षण हेतु पहुँचते थे और शिक्षण व संगीत सम्प्रेषण होता रहा।

(ख) मध्यकाल में संगीत सम्प्रेषण

मध्य काल के पूर्व यदि पूर्व मध्यकाल पर दृष्टि डालें तो यह बात स्पष्ट है कि राजपूत राजा जितने युद्ध प्रिय थे उतने ही संगीत प्रेमी भी थे। इन राजाओं ने अपने-अपने राज्यों में संगीतकारों व कलाकारों को आश्रय देकर उनका यथोचित सम्मान दिया। संगीतकारों व कलाकारों को पारितोषिक, उपाधियाँ

शोध छात्रा वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि., दरभंगा

राजाओं द्वारा प्राप्त थी। इन संगीतकारों एवं कलाकारों ने संगीत को खूब समृद्ध किया। मध्यकाल में राजदरबार और राजगायक व संगीतज्ञ ही सम्प्रेषण के मुख्य बिन्दु थे। मध्यकाल में इन संगीतज्ञों ने संगीत के प्रचार-प्रसार व सम्प्रेषण के लिए ठोस कदम उठाये।

खिलजी, गुलाम, तुगलक, सैयद एवं लोदी वंशों के अल्पकालीन शासन के बाद मुगल शासन की नींव पड़ी। इन सभी सुल्तानों व बादशाहों के राज्यकाल में चिश्ती परम्परा के सूफी सन्तों ने अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए संगीत को सम्प्रेषण माध्यम बनाया। तत्कालीन सुल्तान व बादशाह इन सूफी सन्तों से पूर्ण रूप से प्रभावित थे। इन विभिन्न वंशों के सुल्तान और बादशाह भारतीय संगीतज्ञों को अपने-अपने राजदरबारों में नियुक्त भी करते थे। इस समय फारसी गज़लों के साथ हिन्दी गान भी होते थे। इस दृष्टि से अमीर खुसरो का उल्लेखनीय है। इन्होंने संगीत के विकास और प्रचार-प्रसार के लिए उल्लेखनीय कार्य किया। इसके साथ ही इन्होंने भारतीय एवं मुस्लिम दो संस्कृतियों के आदान-प्रदान के फलस्वरूप भारतीय संगीत में पर्याप्त परिवर्तन लाये। ये परिवर्तन भारतीय संगीत के सम्प्रेषण के प्रमुख कारक बने और चर्चा के विषय रहे।

संगीत शास्त्र एवं संगीत कलाकारों की दृष्टि से 11वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक काल स्वर्णिम काल या स्वर्ण युग कहा जा सकता है। इसी काल में बंगाल के चैतन्य महाप्रभु और उत्तरी भारत के वैष्णवाचार्यों द्वारा परिवर्तन और उनके अनुयायी भक्तों द्वारा प्रचारित भक्तिधारा के परिणाम स्वरूप आम जनता के द्वारा संगीत को परमावश्यक मान लिया गया क्योंकि ये धार्मिक संत ध्यानाकर्षण और संगीत सम्प्रेषण के मुख्य बिन्दु थे। भजन, कीर्तन, पद, स्वरमयी कथा द्वारा भगवान की उपासना में जनता का ध्यान आकर्षित किया और संगीत सम्प्रेषित होता गया। संगीत में पारंगत संगीतज्ञों ने जिस परम्परा को आगे चलाया वहीं सांगीतिक परम्परा संगीत-शिक्षा का अविभाज्य अंग बन गयी। इस बीच ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (सन् 1486 ई. से 1576 ई.) हुए। इनका शासन काल ग्वालियर राज्य का उत्कर्ष काल रहा। ये गुणी संगीतज्ञों के आश्रयदाता रहे और संगीत कला को विशेष आश्रय देने वाले थे। 'मानकौतुहल' की रचना आप ही के द्वारा करवायी गयी। इस काल में भक्ति कवियों एवं धार्मिक संतों ने संगीत के प्रचार-प्रसार और सम्प्रेषण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस काल में स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजूबावरा, गोपालनायक, राजामानसिंह, रानी मृगनयनी, बख्शू, लोहंग, ढोंढू, नूर खां, लाल खां, गुलाम रसूल, मुहम्मद खां, शोरी मियां आदि महान संगीतज्ञ हुए। मुगलकाल में अकबर के काल को स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल संगीत सर्वत्र सम्प्रेषित हुआ और संवर्धित हुआ। इस समय टप्पा, ख्याल, ठुमरी, कव्वाली आदि अनेक सांगीतिक विधाओं की रचना हुई। मुगल काल के अंतिम चरण में 18वीं शताब्दी में मुहम्मद शाह रंगीले के द्वारा संगीत को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। आपके दरबार में सदारंग और अदारंग का नाम उल्लेखनीय है। इस समय मंदिर और हवेलियां सम्प्रेषण केन्द्र थी, जहां से संगीत का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ। घरानों का प्रादुर्भाव यहीं से हो चुका था।

(ग) आधुनिक काल में संगीत सम्प्रेषण

इस काल में संगीत का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार हुआ। इस काल में संगीत हर जगह सम्प्रेषित हुआ। संगीत का दायरा बढ़ा। इस काल में अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ ही सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली का पाचात्यीकरण प्रारंभ हुआ। मानविकी एवं विज्ञान के साथ-साथ ललित कलाओं एवं संगीत की शिक्षा भी गुरूकुल प्रणाली के स्थान पर संस्थाओं या विद्यालयों में सामूहिक रीति से प्रारंभ हुई। जनसाधारण में अधिकतम संगीत सम्प्रेषण एवं संचार के लिए संगीत विषय की संस्थागत सामूहिक शिक्षण विधि अपनायी जाने लगी। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तानसेन के वंशज बहादुर खां जो कि प्रसिद्ध ध्रुपदिया थें, विष्णुपुर बंगाल में जाकर बसे तथा वहां संगीत विद्यालय प्रारम्भ किया जिसमें गदाधर चक्रवर्ती, रामशंकर भट्टाचार्य, निताई नज़ीर, वृन्दावन नज़ीर इत्यादि प्रसिद्ध गायक तैयार हुए। रामशंकर भट्टाचार्य के शिष्यों में क्षेत्र मोहन गोस्वामी ने सन् 1871 में कलकत्ता में एक संगीत विद्यालय की स्थापना की तथा संगीत को जनसामान्य में प्रचलित एवं सम्प्रेषित

करने का सफल प्रयास किया।

पंडित भास्कर राव बखले द्वारा पूना में 1874 में 'भारत गायन समाज' नाम की संस्था की स्थापना हुई। मुम्बई में पारसियों द्वारा 1890 के पूर्व ही 'गायनोत्तेजक मंडल' की स्थापना हुई। सांगीतिक संस्थाओं का संगीत के प्रचार में बहुत योगदान रहा। सांगीतिक संस्थाएं सम्प्रेषण की मुख्य बिन्दु रही। इस दिशा में प्रख्यात संगीतज्ञ पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर एवं पं. विष्णु नारायण भातखण्डे का अतुलनीय योगदान रहा। पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी द्वारा सन् 1901 में गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना लाहौर में की गई। सन् 1906 डॉ. एनीबेसेन्ट द्वारा थियोसोफिकल सोसाइटी (विद्यालय) की स्थापना की गई जिसमें संगीत को शिक्षा का विषय बनाया गया। पं. विष्णुनारायण भातखण्डे जी द्वारा सन् 1918 में ग्वालियर में और 1920 में बड़ौदा में तथा 1926 ई. में लखनऊ में संगीत विद्यालयों का प्रारंभ किया गया। आपके द्वारा किया गया यह सराहनीय प्रयास था, जिससे संगीत का विकास व प्रचार-प्रसार बहुत रूप में हुआ। इसी समय इलाहाबाद में प्रयाग संगीत समिति की स्थापना हुई। सन् 1950 में वाराणसी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संगीत विभाग की स्थापना हुई जिसके परिणामस्वरूप देश के अन्य विश्वविद्यालयों में भी संगीत विभाग की स्थापना होने लगी। आपके द्वारा स्वरलिपि पद्धति का अविष्कार किया गया जो संगीत के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए एक सफल कार्य रहा। संगीत को लिपिबद्ध किये जाने से संगीत का सम्प्रेषण सुलभ हो गया। इसी समय आकाशवाणी एवं दूरदर्शन द्वारा संगीत को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला और ये सम्प्रेषण के मुख्य स्रोत रहे हैं। चलचित्रों में संगीत का प्रयोग एक सफल प्रयोग रहा। संगीत का स्तर बढ़ा और संगीत जन-जन के सामने नये रूप में आयी। पार्श्व गायन का प्रचलन शुरू हुआ, जिससे संगीत का सम्प्रेषण होता गया। प्रेस के द्वारा पत्र-पत्रिकाओं का सफल सम्पादन एवं संगीत का लिखित रूप में संरक्षण हुआ। संगीत के विभिन्न घरानों का भी संगीत सम्प्रेषण में प्रमुख योगदान है। इन सांगीतिक घरानों में संगीत का संरक्षण और संवर्धन हुआ। विभिन्न इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का प्रादुर्भाव भी संगीत के लिए महत्वपूर्ण है। रिकार्डिंग तंत्र और रिकार्डिंग स्टूडियो के द्वारा संगीत की रिकार्डिंग एवं प्रचार किया जाने लगा। कला की अभिव्यक्ति एवं गुणवत्ता निखरकर सबके सामने स्टूडियो के द्वारा आयी। संगीत में रोजगार की नयी-नयी दिशाएं मिलने लगी।

साम गान : दिव्यालोचन

डॉ अर्चना वर्मा

भारतीय शास्त्रीय संगीत का बीज हमें साम गान में दिखाई पड़ता है। साम शब्द का सामान्य अर्थ गीत है। जब स्वर और लय में संवाद हो तभी गीत बनता है।[1] सामवेद अपने गान के पदों को ऋग्वेद से लेता है। सामवेद में बहुत थोड़े से गान ऐसे हैं जो अपने हैं अर्थात् जो ऋग्वेद की ऋचाओं पर आश्रित नहीं है। इसमें गेय मंत्रों का संग्रह है। चूँकि सामवेद के मंत्रों का गान होता है, इसलिए इसके गाने के कुछ नियम-परिनियम बने। इसी नियमबद्धता के कारण इसको शास्त्रीय संगीत की श्रेणी में रखते हैं।

शास्त्रीय संगीत का बीज हमें सामवेद में उपलब्ध होता है जहाँ ऋत्विजों के द्वारा सामवेदीय ऋचाओं के समवेत स्वर से गान का उल्लेख मिलता है। साम-गान चार प्रकार के होते थे- (1) वेय गान (2) आरण्य गान (3) ऊह गान और (4) अह्यं गान। वेय गान को ग्राम गान या प्रकृति गान भी कहा जाता है। यह गाँव में अथवा समाज में गाने योग्य होता था मेरा ऐसा मानना है कि आधुनिक लोक-गीतों का जन्म इसी 'ग्राम गान' से हुआ है। आरण्य गान के अन्तर्गत ऐसे गान थे जो केवल अरण्य अर्थात् एकांत तथा शांत जंगल में ही गाने योग्य होते थे। ऊह का अर्थ है 'उहन' अर्थात् किसी विशेष अवसर पर मन्त्रों का सामयिक परिवर्तन। उह्य गायन का पूरा नाम 'उह्य रहस्य गान' है। ये रहस्यात्मक होने के कारण आरण्य गान के विकृति गान माने जाते हैं। रहस्यात्मक होने के कारण सर्व साधारण समाज में इनका गायन निषिद्ध माना गया है। इन चारों भेदों में से प्रथम दो-वेय गान तथा आरण्य गान योनि गान है और अन्तिम दो-ऊह गान तथा उह्य गान -विकृति गान स्वीकार किए गए हैं।[2]

भारतीय शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति के संबंध में आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि- ''भारतीय संगीत शास्त्र का मूल इन्हीं साम गायनों पर अवलम्बित है। भारतीय संगीत जितना सूक्ष्म, जटिल तथा वैज्ञानिक है वह संगीत के विद्वानों से अपरिचित नहीं है। परन्तु विद्वतजनों की अवहेलना के कारण उसकी इतनी बड़ी दुर्दशा आजकल उपस्थित है उसके मौलिक सिद्धान्तों को समझना एक बड़ी विषम समस्या है।''[3]

नारदीया शिक्षा के अनुसार साम-गान के स्वरमंडल निम्नलिखित है-

सप्तस्वरास्त्र्योग्रामाः मूर्द्धनास्त्वेकविंशतिः
ताना एकोन पंचाशदित्येतत्स्वरमण्डम[4]

सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना तथा उनचास तान यह सब स्वरमंडल कहलाते हैं। सामगान में इन सबका प्रयोग होता रहा है।

ऋग्वेद के मंत्रों को सामगानों के रूप में ढ़ालने पर संगीतानुकूल अनेक शाब्दिक परिवर्तन किए गए हैं। जिन्हें 'सामविकार' कहा जाता है जो छः प्रकार के होते हैं -

1. **विकार :-** अर्थात् अक्षर में फेर बदल करके गाना। यथा अग्नि का सामगान में ओग्नाचि हो जाना।
2. **विश्लेषण :-** अर्थात् शब्द का खण्ड-खण्ड करके परिवर्तित रूप में गाना जैसे 'वीतेय का वोयितोयाज्य' रूपान्तर करके गाना।
3. **विकर्षण :-** विशेष प्रकार से कर्षण करके खींच करके गाना, अक्षर के स्वर को लम्बा करके

विभागाध्यक्ष संगीत विभाग, आर.एस.एस.कॉलेज, चोचहाँ।

गाना। यथा 'ये का' या 23 यि' करके गाना।

4. **अभ्यास :-** अर्थात पुनरावृति करना, बार-बार उच्चारण करना जैसे 'तोया श्चि' 'तोयाश्यि'।
5. **विराम :-** अर्थात् थोड़ी विश्रान्ति देकर रूक-रूककर गाना यथा गृणानों हत्यदातये पद को गान करते समय 'गृणानोह' इतना कहकर क्षणभर के लिए विराम देकर अर्थात् रूककर 'त्यदातये' का गान करना।
6. **स्तोभ :-** ''अधिकरवे सति ऋग्विनलक्षणवर्ण'' रिचा का जो अक्षर है उनके अतिरिक्त उनसे विलक्षण अक्षर का प्रयोग स्तोभ कहलाता है। ये अक्षर उद्गारवाचक होते हैं। यथा ऋचा गाते समय अपनी ओर से 'औदोवा', हाउ हाउ इत्यादि उद्गारवाचक अक्षरों को मिला देना।

सामगान की पद्धति बहुत ही जटिल है। इसको ठीक-ठीक तथा शुद्ध जानकारी के लिए सुक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है। साधारण ज्ञान के लिए यह जानना आवश्यक है कि सामगान के निम्नांकित पाँच भाग या विभाग होते हैं - ये पाँच भक्तियाँ कहलाती है[6]-

1. प्रस्ताव - यह मंत्र का प्रारम्भिक भाग होता है जो 'हुँ' से प्रारम्भ होता है। इसे प्रस्तोत नामक ऋत्विज गाता है।
2. उद्गीथ - इसे साम का प्रधान ऋत्विज उद्गाता गाता हे। इसके प्रारम्भ में 'ओऽम्' लगाया जाता है।
3. प्रतीहार - इसका अर्थ है दो को जोड़ने वाला। इसे प्रतिहर्ता नामक 'ऋत्विज' गाता है।
4. उपद्रव - इसे उद्गाता गाता है।
5. निधन - इसमें मन्त्र के दो पद्यांश या ओऽम रहता है। इसका गायन तीनों 'ऋत्विज-प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता एक साथ ही मिलकर समवेत स्वर से करते हैं।

प्राचीन वैदिक वाङ्मय में साम पंचविद्य या सप्तविद्य बताया गया है। यह विभाजन स्पष्टतः साम के विभिन्न खंडों पर आधारित है। जिसके लिए पारिभाषिक संज्ञा 'भक्ति' है। कतिपय सामों में केवल पाँच खण्ड प्रस्ताव उद्गिथ, प्रतीहार, उपद्रव और निधन सर्वसम्मत' से मान्य है। इसके अतिरिक्त और दो विभाग को मानने वाले के पक्ष में हैं। ये दो भकियां या विभाग 'हींकार तथा प्रणव है। हींकार का प्रयोग साम के आरंभ में तथा प्रणव का प्रयोग प्रस्ताव एवं उद्गीथ के मध्य में किया जाता है। इन भकियों या विभागों के मध्य में मूल स्वर को अभिछिन्न रखने के लिए मंद स्वर में उप गायकों का उपगान होता है। जिसमें केवल मूल स्वर के संतत गायन से उदगात के गान को पुष्टि प्रदान की जाती है। इन भक्तियों का गान दीर्घकाल तक स्वरों पर दृढ़ रहते हुए किया जाता है, जिससे गायन में गूंज उत्पन्न हों। स्वरों पर दीर्घकाल तक टिके रहने के लिए श्वास प्रक्रिया पर नियंत्रण आवश्यक है।[7]

सामगायन में सप्तस्वरों का विकास दिखाई पड़ता है। वैदिक वाङ्मय में स्वरान्तर त्रिविध पाया जाता है। नारदीय शिक्षा के अनुसार यह आर्थिक, गाथिक तथा सामिक संज्ञा से अभिहित है। और क्रमशः एक, दो तथा तीन स्वरों के समूह से निर्मित होता है। यज्ञ प्रयोगों में ऋचाओं का गान एक ही स्वर के आश्रय से बताया गया है तथा सामगान में प्रामुख्य से तीन स्वरों का प्रयोग होता है तथा यही स्वरान्तर 'सामिक' के नाम से सम्बोधित है। साम के आर्चिक नामक संहिताग्रन्थों में मुख्यतः जिन स्वरों का व्यहवहार होता है वे उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित कहलाते हैं।[8]

नारद में उदात्तादि स्वरों में लौकिक स्वरों का अन्तर्भाव बतलाया है-

उदात्ते निषादगान्धारावनुदाते ऋषभधैव तौ।
स्वरितप्रभवा होते षऽजमध्यमपंचमाः[9]

अर्थात् उदात्त में निषाद- गान्धार का अनुदात्त में ऋषभ-धैवत का और स्वरित में षडज, मध्यम, पंचम का अन्तर्भाव है।

मंत्रों का गान इन्हीं स्वरों के आधार से होता रहा है। समुचित स्वर तथा वर्ण से विहीन मंत्र का प्रयोग यज्ञ के यजमान के लिए अत्यंत अनर्थकारक माना जाता रहा है।

सामगायन में गात्र वीणा का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान था। मंत्रगायण में जिस तरह से स्वरों का लगाव होता है उसी तरह गायक के हाथों की पाँच उंगलियों पर स्वर को दर्शाया जाता रहा है। स्वर और हस्तक साथ-साथ चलना चाहिए ऐसा विद्वानों

का कथन है अगर स्वर के उच्चारण के समय सही हस्तक का प्रयोग न किया जाए तो उस मंत्र का वांछित फल प्राप्त नहीं होता।

सामवेद का प्राचीन संगीत की दृष्टि से एक विशिष्ट स्थान है। यही वह ग्रंथ है जिसके रूप में भारतीय संगीत के शास्त्र का अनादि स्त्रोत का दृश्य स्वरूप हमारे सामने प्रथम बार अभिव्यंजित होता है, जो पूर्ण रूपेण नियमबद्ध संगीत था/ है।

संदर्भ सूची :-

1. सिंह, डॉ ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 36.
2. उपाध्याय आचार्य बलदेव- वैदिक साहित्य और संस्कृति (शारदा मन्दिर, काशी), पृ. 183-84
3. वही, पृ. 143
4. सिंह डॉ. ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास पृ. 110
5. उपाध्याय आचार्य बलदेव - वैदिक साहित्य और संस्कृति (शारदा मन्दिर, काशी) पृ. 144
6. वही, पृ. 144
7. परांजपे, डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास पृ. 73-74
8. वही, पृ. 82
9. सिंह डा. ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास पृ. 109

जँतसार : लुप्त होती लोक विद्या

राम ललित कुमार

लोकगीतों के उद्‌गम की तलाश प्रकृति, परिवेश और जैविक स्थितियों से अलग हट कर नहीं की जा सकती। माँसपेशियों के सिकुड़ने और फैलने, श्वास के तेज होने और शरीर के प्रत्येक अंग को संचारित करने के लिए अतिरिक्त उर्जा के प्रयोग से मन के भीतर भी हलचल होती है और उस हलचल के परिणामस्वरूप ही अनायास कुछ ध्वनियाँ मुख से उच्चरित हो उठती है। इन ध्वनियों में गति, लय और आरोह-अवरोह होता है। इन्हीं अस्फुट ध्वनियों से कालांतर में शब्द स्वरयुक्त गीत विकसित होते हैं जो लोकगीत के नाम से जाने जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि कार्यरत श्रम से लोकगीत प्रस्फुटित होती है। उदाहरणस्वरूप आज भी देखा जा सकता है धोबी कपड़ा धोते समय या मल्लाह चप्पू चलाते समय अस्फुट ध्वनियों को उच्चारित करता है। हमारे यहाँ श्रम करते हुए गीत गाने की प्रथा प्राचीन काल से ही दिखाई पड़ती है। रोपनी के गीत हो या सोहनी के गीत हो या कुटाई-पिसाई के गीत हो। श्रम से जुड़े कुछ गीत को सिर्फ पुरुष गाते है, तो कुछ गीत केवल स्त्रीयाँ गाती हैं तो वहीं कुछ गीत स्त्री और पुरुष साथ-साथ मिलकर गाते हैं। इन गीतों में लोक मन अभिव्यंजित होते हैं।

वर्तमान प्रौद्योगिकी के दौर में मानव ने सुख सुविधा हेतु इतना संसाधन जुटा लिया है कि अब उसे अपने हाथों से करने के लिए ज्यादा काम न रहा। अपने हाथों से जहाँ चक्की चला कर अनाज पिसा जाता था वहीं आज इसके लिए विभिन्न प्रकार के स्वचालित यंत्र आ चुके हैं। इन यंत्रों के आने से जहाँ श्रम की बचत हुई है वहीं जाँता चलाते समय जो गीत गाए जाते थे वो विलुप्त हो गए हैं। इन गीतों को संरक्षित करने की आवश्यकता है। जिससे नई पीढ़ी उनके मनोभावों को जान सके।

जँतसार का मुख्य वर्ण्य विषय नारी वेदना है। यह एक कारूणिक गीत है जिसमें करूण रस की सरिता सिमटी पड़ी दिखाई देती है। यहाँ विषय या विषयी दोनों प्रधान है। अगर कहीं वेदना एकांगी है तो कहीं बहुरंगी। इसमें नई नवेली नारी अधिकार विहिन है। वह अपनी सास के अधीन है। सबल पुरुष उसको भोग्य बनाने पर उतारू है। परन्तु एक बात ध्यातव्य है कि पुरुष के पास शारीरिक बल भले ही ज्यादा था लेकिन वर्चस्व नारी का ही था जो सास के रूप में जँतसार में होती है। लोक समाज नारी प्रधान होता है इसमें बिना उसकी अनुमति के पुरुष कुछ नहीं कर सकता।

आगे लिखित जँतसार में पति के परदेश चले जाने के बाद नायिका की जो गति उसकी सास करती है वह बड़ा ही मर्मबेधी है। उसकी सास कहती है कि तुम्हारा पति तो परदेश चला गया तुम अब किसकी कमाई खाओगी? सास उसको घर से निकाल देती है। दुखियाँ स्त्री झाड़ू और टोकरी लेकर वन में चली जाती है। वहाँ भाड़ झोंकने के लिए स्त्री पत्ता बुहारती है। एक दिन परदेश से लौट रहा उसका पति रास्ते में उसे देखकर न पहचान पाता है और पूछता है कि तुम किसकी स्त्री हो? तब स्त्री अपने दुःख को बताते हुए उत्तर देती है मैं एक अभागिन स्त्री हूँ, जिसका पति परदेश गया हुआ है।

ए रामा हरि मोर गइले विदेसवा,
सकल दुःखवो देई गइले हो राम।

शोध छात्र, संगीत विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

ए रामा सासु ननदिया बिरही बोलेली,
केकर कमइया खइबू हो राम।
ए रामा काखे जांति लिहली दउरिया
त हाथे के बढ़नियाँ लिहली हो राम।

x x x x

ए रामा कवना अभगवा के तिरिया,
त बगिया के बहारेलू हो राम।
ए रामा हरि मोर गइले विदेसवा
त बगिया हम बहारेली हो राम।[1]

इस गीत में करूण रस का सागर हिलोर मार रहा है। निर्धनता के कारण वियोगिनी का भाड़ झोंकने का वर्णन कितना मार्मिक है। इस गीत के प्रत्येक अक्षर से करूण रस बह रहा है।

सास और बहू में जिस प्रकार शाश्वत विरोध पाया जाता है उसी प्रकार ननद और भावज, गोतिनी-गोतिनी, सौत-सौत के बीच पाया जाता है। जँतसार में सास, ननद और गोतनी का एक साथ मिलकर नई नवेली दुल्हन को दुःख देने की बात सर्वत्र देखने को मिलती है। सास अपनी बहू को गेहूँ पीसने को देती है। ननद उसे चंगेली प्रदान करती है। जिसमें अधिक गेहूँ समा सके। गोतनी उसको एक मोटा जाँता चलाने को कहती है। वह रोनी लगती है। एक जँतसार निम्न प्रकार है-

सासु देली गेहुँआ हो रामा नन्दी चेगोरिया
गोतनी बहरिनिया हो रामा, भेजली जँससरिया।
जँतवो न चलई हो रामा, चकरी न डोलई,
जँतवा के धइके हो रामा, रोइला जँतसरिया।[2]

जँतसार में आम जनों के धार्मिक विश्वास की भी झलक मिलती है। निःसंदेह ग्रामीण जनता कर्मवाद और मनुवाद में पूर्ण विश्वास करती है और जगत में जो विषमता दिखाई पड़ती है इसका मूल कारण भाग्य को मानती है। भाग्य की प्रबलता और कर्म की दुर्निवारिता की अभिव्यक्ति इन गीतों में बड़ी ही मार्मिक रीति से हुई है। इसमें भाग्य और कर्म दो न होकर एक ही अर्थ के द्योतक है। जँतसार 'करम योग' में एक बाल विधवा औरत अपनी वैधव्यता और बान्ध्यता को असहनीय पाकर अपने माता-पिता से कहती है-

सिर मोरा जरेला सेनुरवा बिनु,
नयना कजरवा बिनु हो राम,
ए बाबा सेजऽ मोरा जरेला बलमुआ बिनु
गोदिया बलकवा बिनू हो राम।[3]

इस पर पिता उत्तर देता है- हाजीपुर के मेला में मैं तुम्हारे भाग्य को बदल दूँगा। इस पर बेटी का उत्तर कर्मवाद या भाग्यवाद के अनुरूप ही प्रतीत होता है।

हाजीपुर बजरिया बाबा काँसऽ पीतरऽ बदलइबे तऽ,
कइसे करमवा बदली हो राम।
कर्म की रेखा अमिट है, उसको कोई भी नही मिटा सकता है।

कोई बिरहिणी स्त्री कहती है कि मेरा पति उत्तर दिशा में मोरंग जिले में व्यापार करने के लिए गया है। उसके परदेश जाने से मेरा हृदय बड़ी आशंकाओं में पड़ गया है। मैं पति के पास अपना विरह संदेश भेजने के लिए किस वस्तु का कागज बनाऊँ? किस वस्तु का स्याही बनाऊँ? मैं कहाँ से पढ़ा -लिखा पंडित पाऊँगी जो मेरे दुःखो को पाती में लिख कर मेरे पति तक पहुँचा दे। फिर वह स्वयं ही सोंचकर कहती है कि मैं अपनी साड़ी का आँचर फाड़ कर उसका कागज बनाऊँगी। और आँखों में लगाए हुए काजल को स्याही बनाऊँगी। मेरा छोटा देवर पढ़ा-लिखा तथा पंडित है। उसी से अपनी चिट्ठी लिखवा कर अपने पति को भेजूँगी। वह स्त्री अपने देवर से कहती है कि मेरे आँचल रूपी कागज के कोने पर मेरे दुखद समाचार को लिख दो। चिट्ठी लिख जाने पर वह स्त्री एक बटोही को कहती हैं कि हे बटोही आप मेरे भाई जैसे हो मेरी चिट्ठी मेरे पति तक पहुँचा दो। उनसे कहना कि आपकी स्त्री वियोग से अत्यंत व्याकुल है।

हरि मोर चलले रे उतरी बनिजिया
जिलवा ए मोरंग हो ना।
मोर जियरा परले अनेरवा
जिलवा ए मोरंग हो ना।
कथ के करबो रे कोर रे कागजवा
जिलवा एक मोरंग हो ना।
कथिए करबि मसीहनिया
जिलवा ए मोरंग हो ना।

केकरा के पइबो पढ़ल पंडितवा,
जिलवा ए मोरंग हो ना।
हमरो सेनुरवा लिखिके भेजिहे
जिलवा ए मोरंग हो ना।
आँचर चिरि-चिरि कारे रे कागजवा,
नयना काजरवा मसीहनिया
जिलवा ए मोरंग हो ना।
लहुरा देवरवा रे पढ़ल पंडितवा
एक ले चिठिया लिखी के भेजिहे,
जिला ए मोरंग हो ना।
अरिया तऽ लिखिहऽ हो सोरहो सनेरवा,
बीचे ठईया बरहो वियोगवा
जिला ए मोरंग हो ना।
बाट बटोहिया रे तुहूँ मोर भईया,
जिलवा ए मोरंग हो ना।[4]
इत्यादि।
ननदी भउजिया रे दुनो पनिहारिन,
मिली-जुली के पानी भरी जासु,
असके ढलिया कोहरा भइया गढ़ले,
भरतऽ घरिला अगीराय।
सभवा बइसल तुहूँ बाबा बढ़इता,
सुनऽ बाबाऽ अरज हमारऽ
तोहरी बहुआ बाबा फोरेली घरिलवा,
रखब कि देखऽ बनवासऽ
हमसे का पूछेलू ए बेटी
पूछी आवऽ अम्मा जी से बात
तोरी बहुरिया अम्मा फोरेली धरि
रखबू कि देबू बनवास,
हमसे का पूछेलू बेटी,
पूछी आवऽ भईया जी से बात।
हरवा जोतत तुहूँ भइया बढ़इता,
सुनऽ भईया वचन हमार,
तोहरी धनियवा भईया फोरली घरिलवा,
रखबऽ कि देवऽ बनवास,
हरवा जोततऽ बहिनी टुटेली हरिसिया,
हेंगवा ही देतऽ जुआदी
पनिया खिंचत बहिनी फूटेली घरिलवा
नाही हम दिहब बनवास।[5]

इस गीत में ननद और भावज एक साथ पानी भरने गई है। संयोगवश भावज का घड़ा टूट जाता है। अब क्या ? ननद को मौका मिल जाता है। वह इसकी शिकायत अपने पिताजी से करने जाती है और कहती है कि ऐसी बहू को रखेंगे कि बनवास देंगे ? पिता कहता है कि तुम अपनी माता जी से पूछो। माता कहती है कि भाई से पूछो। भाई कहता है कि हल जोतते समय हल की हरिश और हेंगा के समय जुआठ क्रमशः टूट ही जाता है। तो पानी भरते समय घड़ा टूट गया तो मैं अपनी पत्नी को बनवास कैसे भेज दूँ? जँतसार गीतों में नारी मन के भावो का निरूपण सशक्त ढ़ंग से हुआ है। आम दिनों में पिसाई करते हुए अपने पति, सास, ननद, गोतिनी आदि से लगाव-विलगाव के भाव मुखरित होते है। वहीं पर्व त्योहारों के अवसर पर उनसे संबंधित विचारो का प्रस्फुटन होता है। उदाहरण हेतु जब छठ महापर्व के अवसर पर प्रसाद हेतु गेहूँ की पिसाई करते है तो उस समय गाए जाने वाले गीतों में छठी मईया या आदित्य देव से अपने शारीरिक एवं आंतरिक दुःख-दर्द, विरह से संबंधित गीतों का गायन भी किया जाता है। यह गीत पूर्ण रूपेण नारी के दुःख-दर्द, विरह प्रताड़ना आदि से संबंधित गीतों का गायन भी करते हैं।

जँतसार श्रम करते हुए गाई जाने वाली लोक शैली है जो श्रम के थकान के साथ-साथ हृदयगत या मनोगत भावों को स्वर, लय के साथ व्यक्त करने वाली शैली है। इस गीत के साथ कोई भी वाद्य यंत्र नहीं बजता है। लय देने का कार्य चक्की के घुमाव के गति पर निर्भर करता है। अर्थात् चक्की की गति को लय का आधार मान कर इस गीत की प्रस्तुति होती है।

संदर्भ सूची

1. तिवारी राम नारायण, भोजपुरी श्रम गीतों में जँतसार, पृष्ठ संख्या-55
2. वहीं पृष्ठ संख्या-63
3. लोक गायिका रामझरी देवी से प्राप्त
4. उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव, भोजपुरी लोक संगीत, पृष्ठ-68
5. लोकगायिका कविता देवी से प्राप्त।

सामाजिक उन्नयन में संगीत की भूमिका

प्रियंका कुमारी

साधारण बोलचाल की भाषा में समाज का अभिप्राय व्यक्तियों के समूह से है, परन्तु केवल व्यक्तियों के समूह को समाज नहीं कहा जा सकता है। समाज एक व्यापक शब्द है और विद्वान इसका प्रयोग भी व्यापक अर्थ में करते हैं। समाज से तात्पर्य मनुष्यों के विशाल समूह से नहीं है, बल्कि सामाजिक सम्बन्धों से है। मैकाइवर के अनुसार-मनुष्य का एक दूसरे के साथ ऐच्छिक सम्बन्धों से है। मैकाइवर के अनुसार समाज संबंधों का जाल है। जिन्सवर्ग के अनुसार पारस्परिक संबंध समाज का आधार है।[1]

मनुष्य जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त समाज में रहता है। उसके जीवन के हर एक पहलू पर समाज का प्रभाव अवश्य रहता है। अरस्तु ने भी कहा है- मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के ढाँचे में इस प्रकार बँधा रहता है कि उसके बिना उसका निर्वाह हो ही नहीं सकता है। शिशु जब जन्म लेता है तब समाज ही उसकी देख-रेख सेवा- सुश्रुषा करता है। इसके अभाव में बच्चे का विकास रुक जाएगा। अतः एक सद्यः जात शिशु अपने शारीरिक और मानसिक विकास के लिए हर तरह से समाज पर आश्रित है। मानव को जीवित रहने के लिए अपने जीवन की अनिवार्य इच्छाओं की पूर्त्ति आवश्यक है। इन इच्छाओं की पूर्त्ति समाज पर आश्रित है, उसी तरह समाज को भी व्यक्ति की अपेक्षा है। समाज की अपनी कोई अलग स्वतंत्र सत्ता नहीं है। अपनी उद्देश्यों एवं आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए ही मनुष्यों ने समाज का निर्माण किया। व्यक्ति समाज से पूर्ण बनता है और समाज व्यक्ति से। व्यक्ति की उन्नति से समाज उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है और समाज की प्रगति तथा उसकी सभ्यता के विकास से मनुष्य की उन्नति होती है। समाज मनुष्य के लिए है मनुष्य समाज के लिए है। अतः वह व्यक्ति धन्य है जो समाज सुशोभित करता है और वह समाज भी धन्य है जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होता है।

लोकगीत लोक के मानसिक और सामाजिक विकास की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अतः इस आधार पर लोकगीत को लोक के आत्म कथात्मक उत्स की संज्ञा दी जा सकती है।[2]

पुत्री के विवाह की चिन्ता

हमारे समाज में पुत्री के जन्म लेने पर माँ को ऐसा लगता है कि मानो सारी धरती पर हाहाकार छा गया है। सास और ननद तो बात ही नहीं करती हैं। पति का भी मन उदास हो जाता है। पुत्री का जन्म पिता के लिए महान् चिन्ता और कष्ट का कारण बन जाता है। फिर पुत्री जन्म लेकर माता की गोद में धीरे-धीरे पलती हुई बड़ी होती है। बड़ी होने पर मानो घर के लोग सोचने लगते हैं कि जल्द ही इसका विवाह कर ससुराल भेज दिया जाए। पुत्री को पराए घर की धरोहर समझा जाता है। इस धरोहर को वापिस नहीं कर दिया जाए तब तक घर वाले चिन्ता में ही डूबे होते हैं। वर ढूँढने के लिए पिता गाँव-गाँव ढूँढते हैं कि सर्वगुणसम्पन्न वर मिल जाए तो पिता पुत्री का विवाह कराए, ये सब उत्तरदायित्व पिता के ऊपर होता है।

पुत्री अपने पिता से कहती है कि हे पिता जी! जिसके घर में कुँवारी लड़की है, वह भला निश्चित

शोध छात्रा वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि., दरभंगा

कैसे सो सकते हैं इतना सुनकर पिता चिन्तित होकर उठते हैं, लटपत पगड़ी बाँध लेते हैं और वर खोजने के लिए उत्तर-दक्षिण दिशा में चले जाते हैं-

बाबा के हवेलिया में आलरी झालरी
ओही पैसी बहै छै बतास है।
ओही घुरूमि नींद लेए है।
जैसी घर आही बाबा धिया जे कुमारी
सेही कैसे सुत्तले निचिंत हे।
एतना बचन सुनलन बाबा
बान्हि लेले लटपट पाज है।
चलि भेलै आही बाबा उत्तर दखिना दिस।
खीजै धिया जोग बर हैं।

वृद्ध विवाह या अनमेल विवाह

दहेज एक ऐसी कुप्रथा है जो कि अच्छे-अच्छे रितों को तोड़ भी सकता है, और जोड़ भी सकता है। गाँव में जो गरीब लोग होते हैं जिनके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है तथा लड़की किशोरी हो गई है तथा गुणवान भी है परन्तु गरीबताई के कारण पिता ये भी नहीं सोचते कि लड़का वृद्ध है या उमरदार है और अगर उमर में ज्यादा होगा या उसे दूसरी पत्नी (जैसे एक की मृत्यु किसी कारणवश हो गई) के लिए वह दहेज नहीं माँग करता। इसलिए पिता अपनी आर्थिक स्थिति देखते हुए अपनी बेटी की शादी कर देता है। दूसरा कारण ये भी कहा जा सकता है कि गाँवों में शादी का नाम सुनते ही लड़की शरमा जाएगी वो अपना चयन नहीं बता सकती। पिता को जो पसंद है वहीं ाादी होती थी। ना ही कोई लड़की से पूछेगा और ना ही लड़की अपना चयन बता सकती है। इससे भी अनमेल विवाह हो जाता है। पिता सोचता है कि दहेज ना देकर पुत्री ससुराल में ताना ना सुने इससे अच्छा तो वृद्ध से ही जो दहेज ना माँग भी नहीं करता उसी से शादी कर बैठता है कि मेरी बेटी ससुराल जा कर राज करेगी।

अनमेल विवाह में वृद्ध विवाह अधिक मायने रखता है। किशोरी अवस्था की लड़की की शादी तो वृद्ध से हो जाती है। लड़की को बाल वर के मिलने से उतना कष्ट नहीं होता जितना वृद्ध वर मिलने से कष्ट होता है। और वो रो पड़ती है। उसके असलियत पता नहीं आगे चलकर लहलहाएगी या नहीं उसे तो ये भी नहीं पता होता है कि वैधव्य की अग्नि में जलने का दिन तो निकट नहीं आ रहा। उस पति से वो अपनी दिल की बात अथवा प्रेम की बात भी नहीं कर सकती है क्योंकि वो उसकी उम्र से चार गुना या पाँच गुना अर्थात पिता, दादा की उम्र का है और वो भाग्य को कोसने लगती है।

एक लोकगीत में एक युवती की मनोव्यथा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। वृद्ध-विवाह का अत्यन्त ही सजीव चित्रण इस गीत में किया गया है। कोई स्त्री कहती है कि मैने इत्र आदि से सुवासित चन्दन रगड़ पति को लगाने के लिए रखा। किन्तु जब अपने वृद्ध पति को देखती है, जिसके सभी दाँत टूट गए हैं और बाल सफेद हो गए हैं, उसका मन बिल्कुल उदास हो गया-

कथि लगति चनन रगड़ली,
इतरता में बसाएली हो ललना रे कपि
लागि, चढली अटरिया।
कथि देखि इमान भेली हो।
पिया लागि चनन रगड़ली,
इतरता में बसाएली हो।
ललना रे, पिया लागि चढ़ली अटरिया।
पियबा के देखि इमान भेलो हो।
पियबा के केस सब पाको गेलै।
दाँत सब टूटी गेलै हो।
ललना रे, सभे रे समैया पियबा के बीतल
होरिला नहीं भेलै है।

वैधव्य

भारतीय हिन्दु समाज में विधवा का जीवन बड़ा ही दयनीय तथा हृदयस्पर्शी होता है। बचपन से ही जब लड़की का जन्म होता है तो वहाँ से ही उसका जीवन कष्टप्रद होना शुरू हो जाता है। जन्म होते ही लोग लड़की को बोझ मानना शुरू कर देते हैं। धीरे-धीरे बड़ी होगी तो लोग कहने लगेंगे कि अब इस लड़की की शादी के लिए पैसा इकट्ठा करो तथा लड़का भी देखना शुरू कर देते हैं। इसलिए पुराने जमाने में लोग गाँवों में बाल विवाह ही कर देते थे। तब खेलने-पढ़ने के दिनों में उसे खाना-बनाना घर का सारा काम काज करना सिखा दिया जाता था

और अगर कुछ भी गलती हो जाए तो बचपन से ही उसे ताने सुनने पड़ते थे और अगर शादी के बाद उसके पति की अकाल मृत्यु हो गई तो जीवन भर वैधव्य का कष्ट झेलना उसके जीवन की सबसे बड़ी सजा है। समाज इतना पर भी नहीं छोड़ती उस विधवा से उसकी सारी इच्छा तथा नारी जीवन की समस्त आशाओं और भावनाओं की बलि दे और ये विधवा के लिए बड़ा की मर्मस्पर्शी है और उसे उस घर की नौकरानी की तरह ही रखा जाता है। सारा काम काज कराने के बाद घर के बुजुर्गों की सेवा करना तथा घर में अगर दूसरों के बच्चों का देख रेख अर्थात अपने गृहस्थ जीवन के बारे में सोचने उसके लिए अपराध के समान है। विधवा को हमारे समाज में बड़ी ही हेय दृष्टि से देखा जाता है। पुराने जमाने में गाँव के अगर किसी शुभ कार्य के लिए निकलते वक्त विधवा दिख गई तो मानो संकट और अकल्याण ही है। शादी विवाह के अवसर पर उसे अपसगुण मानते हैं। यहाँ तक कि प्रातः काल अगर विधवा का दर्शन हो गया तो सारा दिन खराब हो जाता है। समाज में विधवा होनो अभिशाप है। विधवा का कोई जीवन नहीं वो एक जिन्दा लाश की तरह हो जाती है।[3]

मंगिया रोबे छे हो बाबू मंगिया सिन्दूर बिनू।
सेन्दूर मोरा भे गेलै सपनमे रे कि
अैखिया जे सेबै हो बाबू अंखियां काजर बिनु।
काजर मेरा भे गेलै सपनमे रे कि
बैहिया जे रोबै हो बाबू, बैहिया लहठी बिनु
लहठी मोरा भे गेलै सपमने रेकि
मुखना जे रोबै हो बाबू महमह पान बिनु।
पान मोरा भै गैले सपनमे रे कि।

उपर्युक्त गीत में विधवा का हृदय फूट-फूट कर रोता हुआ दिखाई पड़ रहा है। विधवा के इस करुण एवं हृदयद्रावक विलाप को सुनकर कौन ऐसा पत्थर हृदय वाला व्यक्ति होगा जिसका कलेजा नहीं हिल उठेगा।

19वीं शताब्दी में ही राजा राममोहन राय ने सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करने के लिए सुधार-आन्दोलन किया था, जिसमें विधवा-पुनर्विवाह से संबंधित कुप्रथाओं के विरुद्ध सक्रिय आवाज उठाई थी। राजा राममोहन राय के साथ ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह सम्बंधी आंदोलन शुरू किया। उनके प्रयास से सन् 1856 ई. में हिन्दू-विधवा-पुर्नविवाह अधिनियम पास किया गया। इन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना कर हिन्दू समाज के सुधारने के लिए विधवा-पुनर्विवाह और स्त्रियों को शिक्षा का समर्थन किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। इसकी स्थापना का उद्देश्य जाति-पाति के भेदभाव, अन्तर्जातीय विवाह के सम्बंध में प्रतिबन्ध, विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध आदि के विरुद्ध क्रियात्मक आन्दोलन चलाना था। आर्यसमाजी आदर्शों के अनुसार आज भी भारत के विभिन्न भागों में समाज-सुधार-कार्य चल रहा है। अतः विधवाओं की हृदयस्पर्शी दशा को देखते हुए यौन संबंधी अनाचार, विकास के लिए उनके बच्चों को बर्बादी से बचाने के लिए विधवा-पुनर्विवाह संबंधी समाज सुधार आवश्यक है।[4]

बन्धया क़ट

बन्धया होना हमारे समाज में एक बहुत बड़ा अभिशाप है। बिहार या हमारे समाज में एक बहुत बड़ी विडम्बना भी है। लड़की जन्म से धीरे-धीरे बड़ी होकर उसकी शादी होती है तो सभी आशीर्वाद में यही शब्द बोलते हैं कि सौभाग्यवती भव या पुत्रवती भव। एक औरत की सबसे बड़ी सफलता माता बनने पर ही मानी जाती है। भारतीय समाज में संतानहीन नारी का कोई महत्त्व नहीं हैं उसे तिरस्कृत दृष्टि से देखा जाता है। गाँवों में या निम्न वर्ग के लोग तो अगर स्त्री बन्धया निकल गई तो पुरुष दूसरा विवाह कर लेता है। हमारे समाज में जिसे संतान नहीं है उसे वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है। शादी के बाद ससुराल वाले अगर एक दो साल में पुत्र का जन्म नहीं होता तो वो मन्दिरों में देवी-देवता से मनता मानने लगते हैं कि भगवान पुत्र दे तो मैं सवा मन लड्डु चढाऊँगी इत्यादि और अगर पुत्र हो गया तो ढोल-मंजीरे से सोहर गाकर गाँवों में हल्ला होता है और अगर पुत्र नहीं हुआ तो छोटी-छोटी बातों के लिए उसे निःसन्तान होने का उल्लाहना मिलने पर भी देर नहीं लगता।

पिअबा एकेगो अमलोलबा तो लगैता कि टिकोलबा हम चारवते हैं
मनसा पैसलि तोहि धनि छेका, धनि दुलरैतिन हैं।
धनि एके गो बलकबा तो विऐतिह सोहरबा हम सुनते हैं।

शासन व्यवस्था

भारत देश में शासन व्यवस्था बहुत ही प्राचीन व्यवस्था है और ये वर्तमान काल तक फैली हुई व्यवस्था है और ये गाँव-गाँव तक फैली हुई व्यवस्था है। गाँवों में पंचायत व्यवस्था होती है अगर कोई व्यक्ति कानून तोड़कर अपराध करता है तो उसे पंचायत सजा देती है। ये व्यवस्था होने के कारण व्यक्ति व्यवस्थित जीवन जीता है और अगर अपराध बड़ा हो तो उसे कोर्ट -कचहरी तक ले जाया जाता है और फिर वहाँ सजा सुनाई जाती है। छोटा हो या बड़ा सबके प्रति समान भाव रखना ही शासक का प्रधान उद्देश्य रहता है। निम्नलिखित गीत में ऐसा ही कुछ कहा जा रहा है-

राजा राजा बढई डाँटी,
बढई न खुट्टा चीरे खुट्टे मे मोरी दाल है
क्या खाऊँ, क्या पीऊँ,
क्या लेके परदेश जाऊँ?[5]

संदर्भः-

1. सिंहा डॉ. महेश कुमार, बिहार की नाट्कीय लोक विधाये, पृ. 34
2. सिंहा डॉ. महेश कुमार, बिहार की नाट्कीय लोक विधाये, पृ. 35
3. सिंहा डॉ. महेश कुमार, बिहार की नाट्कीय लोक विधाये, पृ. 37
4. सिंहा डॉ. महेश कुमार, बिहार की नाट्कीय लोक विधाये, पृ. 38
5. सिंहा डॉ. महेश कुमार, बिहार की नाट्कीय लोक विधाये, पृ. 39

फिल्मों में महिला उपशास्त्रीय संगीतज्ञ

रूबी कुमारी

भारतीय संगीत के उत्थान में महिला संगीतज्ञों का योगदान अवर्णनीय है, जिसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है। सामान्यतः ऐसा देखा जाता है कि संगीत ही नहीं बल्कि किसी भी क्षेत्र में महिलाएँ पुरूष की अपेक्षा अधिक तत्पर रहती हैं और कार्य को कुशलता के साथ सम्पन्न करती हैं। संगीत के क्षेत्र में महिलाओं का योगदान प्राचीनकाल से ही दिखाई देता है जिसमें वे पुरूष के साथ-साथ-कदम-से-कदम मिलाकर चल रही हैं। महिलाओं की आवाज पुरूषों की अपेक्षा अधिक मीठा होता है जो एक ईश्वरीय देन है। इस आवाज में वे अपने मेहनत एवं रियाज के द्वारा और सुरीला बना लेती हैं जिससे उसकी सुन्दरता में चार-चाँद के समान झलकने लगती है। भारतीय संगीत में कई ऐसे महिला उपशास्त्रीय संगीतज्ञ हुई हैं जिन्होंने उपशास्त्रीय गायन के साथ-साथ फिल्मों में भी पार्श्वगायन कर अपनी सुरीली आवाज को बहुत दूर-दूर तक पहुँचायी हैं। भारत-रत्न से सम्मानित सुर-सम्राज्ञी लता मंगेश्कर आज अपने आवाज के कारण भारत ही नहीं बल्कि पूरे संसार में चर्चित हैं। ऐसे अनेक महिला उपशास्त्रीय संगीतज्ञ हैं उनमें से कुछ संगीतज्ञों का उल्लेख इस प्रकार है जिन्होंने अपने उपशास्त्रीय-गायन के साथ फिल्मों में भी पार्श्वगायन किया हैः-

जोहरा बाई

आगरा की रहने वाली श्रीमती जोहरा बाई ठुमरी एवं नृत्य दोनों विधाओं की एक कुशल संगीतज्ञा थीं। उन्होंने अच्छे विद्वान गायकों से संगीत की शिक्षा प्राप्त कर अपने गायन को परिपूर्ण बनाया जिनका नकल बाद में नारायण राव व्यास, श्रीमती हीराबाई बड़ौदेकर, गौहर जान आदि संगीतज्ञों ने किया।[1] उन्होंने ठुमरी-गायन के साथ-साथ अनेक हिन्दी फिल्मों में पार्श्वगायन किया है। उन्होंने नौशाद के संगीत निर्देशन में अनेक गीतों का पार्श्वगायन किया जो इस प्रकार है[2]-

1. आँखिया मिला के जिया भरमा के चले नहीं जाना
2. आई दीवाली, आई दीवाली
3. सावन के बादलों तुमसे ये क्या कहूँ
4. रूम-झूम बरसे बादरवा

इसका बाद वे फिल्म 'कार्वन' में आँखों में इन्तजार थी दुनिया लिए हुए', फिल्म जीनत में हफ़ीज ख़ान के संगीत निर्देशन में 'दुल्हन बन जाओ. ...2, गले जाओ, एवं 'आहें न भरी शिकवे न किए, कुछ भी जुवां पे नाम लिया और फिल्म 'आईना' में 'भारत माता की बेटी शक्ति का अवतार गीत का गायन में अहम भूमिका निभाईं।

जद्दन बाई

जद्दन बाई, काशी की विद्याधरी बाई समकालीन गायिका थीं। उनकी आवाज बहुत ही रसीली एवं सुरीली था जिसके कारण संगीत प्रेमियों के मानस-पटल पर उनकी अमिट छाप को अंकित की। वे ख्याल से लेकर टप्पा, ठुमरी, चैती, कजरी, गजल आदि अनेक गायन-शैलियों के गायन में परिपूर्ण थीं। उन्होंने अपने संगीत-निर्देशन की शुरूआत 1935 ई. में फिल्म 'तलाशे हक' से की। उसके बाद वे 1936 ई. में फिल्म 'मैडम फैशन' और 'हृदय मंथन', सन्

शोध छात्रा, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि., दरभंगा

1937 ई. में फिल्म 'मोती हार' और 'जीवन स्वप्रभा' में संगीत निर्देशन किया। उन्होंने संगीत निर्देशन के साथ-साथ फिल्मों में अभिनय भी किया। सन् 1933 ई. में फिल्म 'राजा गोपीचंद' में उन्होंने माँ की भूमिका निभाई[3]। अपने युग की चर्चित अभिनेत्री नर्गिस इन्हीं की सुपुत्री थीं[4] जिनका पुत्र वर्तमान समय में एक कुशल अभिनेता संजय दत्त हैं।

बेगम अख़्तर

बेगम अख़्तर का जन्म 07 अक्टूबर 1914 ई. में फ़ैजाबाद जिले के भादरस नामक गाँव में एक सांगीतिक परिवार में हुआ था। उनकी माता का नाम मुश्तरी बाई था जो एक सिविल जज एवं अच्छे शायर थे[5]। बेगम अख़्तर का मूल नाम 'अख़्तरी बाई' था जो बाद में बेगम अख़्तर के नाम से प्रसिद्ध हुई। उन्होंने अनेक थियेटरों के साथ-साथ रियासतों में अपने मधुर आवाज से संगीत-प्रेमियों को आकर्षित किया। उन्होंने उपशास्त्रीय गायन के अतिरिक्त फिल्म-निर्देशक के अनुरोध पर अनेक फिल्मों में अभिनय एवं पार्श्वगायन किया। उनके द्वारा अभिनय किये गये अनेक फिल्मों में 'एक दिन की बादशाहत', 'अमीन', 'मुमताज बेगम', 'जवानी का नशा' नसीब का चक्कर' 'रोटी' आदि प्रचलित हैं।

सन् 1904 ई. के दशक में उन्होंने फिल्म 'एहसान' एवं 'दाना-पानी' में पार्श्वगायन किया[6]।

बेगम परवीन सुल्ताना

असम के नौ गाँव में जन्मी बेगम परवीन सुल्ताना ने शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय गायन के साथ-साथ फिल्म-जगत में भी अवर्णनीय योगदान दिया। उन्होंने सर्वप्रथम फिल्म 'दो बूँद पानी' में जयदेव के संगीत निर्देशन में गीत 'पीतल की कोरी गागरी' में अपना स्वर दिया उसके बाद वे फिल्म-जगत में चर्चित हो गईं। सन् 1971 ई. में फिल्म 'परवाना' में आशा भोसले के साथ मिलकर 'पिया की गली लगे भली' गीत का युगल-पार्श्वगायन किया। सन् 1972 ई. में फिल्म 'पाकीज़ा' में गीत 'कौन गली गयो श्याम,बता दे रे सखी राम री', सन् 1981 ई. में फिल्म 'कुदरत' में गीत 'हमें तुमसे प्यार कितना' सन् 1993 ई. फिल्म 'अनमोल' में गीत कोई इश्क का रोग लगाए न' ओर सन् 2001 ई. फिल्म 'गदर : एक प्रेम कथा' में सुप्रसिद्ध शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय गायक पंडित अजय चक्रवर्ती के साथ मिलकर 'आन मिलो सजना' गीत का पार्श्वगायन किया।

सन् 1981 ई. में फिल्म 'कुदरत' के गीत 'हमें तुमसे प्यार कितना' के लिए फिल्म जगत सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार से उन्हें सम्मानित किया गया था।

श्रीमती शोभा गुर्टू

उपशास्त्रीय संगीत की प्रसिद्ध गायिका श्रीमती शोभा गुर्टू का जन्म 06 फरवरी 1925 ई. को कर्णाटक राज्य के बेलगाँव नामक स्थान पर हुआ था। उनकी माता का नाम श्रीमती मेनका सिरोडकर था जो एक नर्तकी एवं शास्त्रीय संगीत की अच्छी जानकर थीं तथा उनके पिता का नाम श्री नारायण राव गुर्टू था जो एक पुलिस ऑफिसर एवं अच्छे संगीतकार थे। शोभा जी की आवाज खुली एवं बुलंद थीं जो सुलभतापूर्वक तीनों सप्तकों में पहुँच जाती थी। वे पूरब एवं बनारसी अंग की ठुमरियों का कुशलतापूर्वक गायन किया करती थीं। उनकी संगीत कला से फिल्म जगत को भी लाभ हुआ और 'पाकीज़ा', 'प्यासी औरत', 'फागुन' आदि अनेक फिल्मों में उन्होंने पार्श्वगायन किया।

शोभा गुर्टू ने सन् 1973 ई. फिल्म 'फागुन' में एस. डी. बर्मन के संगीत निर्देशन में गीत ''मोरा सैया बेदर्दी बन गये कोई जाओ मनाये'' में पार्श्व गायन से शुरूआत की। सन् 1975 ई. में सपन जगमोहन के संगीत निर्देशन में फिल्म 'सज्जो रानी' में गीत ''नथनिया में हाय राम बड़ा दुख दीना'' का गायन की हैं। सन् 1978 ई. में फिल्म ''मै तुलसी तेरे आंगन की'' में गीत ''सैया रूठ गये मै मनाती रही'' गायी हैं। सन् 1981 ई. में फिल्म 'श्रद्धाजलि' में हेमन्त के संगीत निर्देशन में गीत ''सैया डोली ले के आये मेरे द्वार सवेरे लेकर जाएँगे'' में गायन की हैं। सन् 1885 ई. फिल्म 'फासले' में प्रमिला चोपड़ा के साथ मिलकर गीत ''मोरा बन्ना दुल्हन लेकर आया'' में अपना स्वर दिया है। इन फिल्मों के अतिरिक्त और भी कई फिल्म है जिसमें उन्होंने पार्श्व गायन किया हैं।

आरती अंकलीकर टिकेकर

आरती अंकलीकर टिकेकर का जन्म 27 जनवरी 1963 ई. को विजयपुरा कर्णाटक में हुआ था। उन्हें दो बार भारतीय शास्त्रीय गायन हेतु राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। उन्होंने ग्वालियर, आगरा और रामपुर घराने से संगीत की शिक्षा प्राप्त की हैं। वे शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय-गायन के साथ-साथ पार्श्वगायन के क्षेत्र में भी अपना नाम रौशन किया है। उन्होंने श्याम बेगेनल की फिल्म 'सरदारी बेगम' में मुख्य-गायिका के रूप में अपना स्वर दिया। वे मराठी, कर्णाटकी और हिन्दी की अनेक फिल्मों में पार्श्वगायन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक उपशास्त्रीय संगीत की गायिकाओं ने फिल्म संगीत के क्षेत्र में अपनी गायकी का परचम फहराया है।

संदर्भ सूची :

1. मिश्र कामेश्वर नाथ, काशी की संगीत परंपरा, पृष्ठ 144
2. इण्टरनेट
3. वही
4. द्विवेदी डॉ. पूर्णिमा, ठुमरी एवं महिला कलाकार, पृष्ठ 236
5. सहगल डॉ. सुधा, बेगम अख़्तर व उपशास्त्रीय संगीत, पृष्ठ 124
6. द्विवेदी डॉ. पूर्णिमा, ठुमरी एवं महिला कलाकार, पृष्ठ 204

तबले की उत्पति : एक अवधारणा

संजीत कुमार

आदिकाल से लेकर आज तक विभिन्न ताल वाद्यों का उदभव् विकास एवं उपयोग आवश्यकतानुसार होता रहा है, परन्तु मस्तिष्क में यह प्रश्न उठता है कि ताल वाद्यों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? ताल वाद्यों की उत्पत्ति को समझने के पूर्व 'वाद्य' शब्द का विश्लेषण आवश्यक है। 'वद' धातु में यत् प्रत्यय के लगने से इसकी उत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है बोलना अर्थात् जो बजाने योग्य यंत्र विशेष हो उसे वाद्य कहा गया है। यदि हम ध्यान पूर्वक सुने तो वाद्यों में हमें स्वरों तथा उससे उत्पन्न शब्दों का उच्चारण भी सुनाई देता है और यही वाद्य यंत्रों की सफलता की कसौटी भी है। अन्तर केवल इतना है कि गायन में स्वरों में पिरोये हुए शब्द स्पष्ट सुनाई देते है, परन्तु वाद्य यंत्रों की ध्वनि में शब्दों का अन्तर्तिभास रहता है।

भारतीय संगीत का प्रत्येक पक्ष धर्म से अनुप्राणित है। यही कारण है कि भारतीय संगीत भी धर्म से अछूता न रह सका। धार्मिक तथ्यों के आधार पर यह माना जाता है कि संगीत में अपरिहार्य स्थान रखने वाले इन वाद्यों का संबंध किसी न किसी देवी-देवताओं से रहा है। बाँसुरी से कृष्ण कन्हैया, डमरू से भगवान शंकर तथा वीणा में देवी सरस्वती की कल्पना साकार हो उठती है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मानव ने वीणा से तंत्री वाद्य, डमरू से अवनद्ध वाद्य एवं बाँसुरी से सुषिर वाद्यों की निर्माण की प्रेरणा प्राप्त की होगी। इस सन्दर्भ में ऐसी किंवदन्ति प्रचलित है कि त्रिपुरासुर राक्षस का वध करने के उपरान्त प्रसनचित शिव नृत्य करने लगे तथा उनके नृत्य को लयवद्धता प्रदान करने के लिए ब्रह्मा ने त्रिपुरासुर के रक्त और मिट्टी के मिश्रण से एक पिण्ड बनाया और उसकी खाल से उसे मढ़ दिया, फिर शिव जी के पुत्र गणेश को ताल देने का आदेश दिया, ऐसा प्रतीत होता है कि तभी से ताल एवं अवनद्ध वाद्यों की सृष्टि हुई होगी। धर्म से मढ़े होने के कारण डमरू आदि अवनद्ध वाद्य की श्रेणी में आता है। इस प्रकार धार्मिक आधार पर ब्रह्मा तथा शिव अवनद्ध वाद्यों के जनक माने जाते हैं।

मानव सदा से ही प्रकृति के निकट रहा है तथा अपने चारों और के प्राकृतिक वातावरण में समाविष्ट अनेक प्रकार की ध्वनियों को सुनता रहा है। जैसे बादलों की गरज बिजली की सरिस हिट प्राकृतिक ध्वनियाँ ही मानव मन में वाद्यों की उत्पति की प्रेरणा स्त्रोत रही होगी।

प्राचीन समय में जिस प्रकार त्रिपुष्कर एक उन्नत वाद्य या ठीक उसी प्रकार आज तबला उन्नत अवनद्ध वाद्य है। प्राचीन समय में त्रिपुष्कर के तीन रूप आंकिक, उध्वंक और आजिंग्य होते थे। आंकिक को लिटा कर रखा जाता था तथा उध्वंक और आलिंग्य उर्ध्वमुखी अर्थात् उनके मुख सामने की ओर होते थे। जिसमें आलिंग्य को शरीर से दबा कर बजाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि आज भरतकालीन आंकिक परिष्कृत होकर पंखावज के रूप में विद्यमान तथा प्राचीन उर्ध्वक का परिष्कृत रूप तबला, आधुनिक समय तबला सर्व उन्नत अवनद्ध वाद्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है।

शोध छात्र, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि., दरभंगा

उत्पति संबंधी तबलो की विभिन्न विचारः-

हजरत अमीर खुसरो द्वारा तबला आविष्कार-संबंधी मत—इस मत के अनुसार तेरहवी शताब्दी के हजरत अमीर खुसरों को 'तबला' वाद्य का आविष्कार किया। हजरत अमीर खुसरों को 'तबला' वाद्य का आविष्कारक मानने वालों के मत पर विचार करने से कुछ विशेष तथ्य सामने आते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि हजरत अमीर खुसरों जिनका समय तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध (जन्म, सन् 1253 और सन् 1325) तक है, उन्होने स्वयं अपने ग्रंथों में तबले का कोई जिक्र नहीं किया। यद्यपि उनके समकालीन और परवर्ती कुछ ग्रथों में 'तब्ल' या 'तबला' नामक वाद्य का उल्लेख मिलता है। परंतु उस समय इन नामों से जिस अवनद्ध वाद्य को संबोधित किया जाता था, वह युद्ध के समय बजाया जाने वाला धौंसा या बड़ा नगाड़ा था उससे पूर्व अरब, फारस, तुर्की इत्यादि मुस्लिम देशों में भी उनके उर्ध्वमुखी अवनद्ध वाद्यों के लिए साधारणतः 'तब्ल' शब्द का प्रयोग किया जाता था। परंतु उनमें से कोई भी अवनद्ध वाद्य भारतीय तबला जैसा नहीं था। अतः हजरत अमीर खुसरो द्वारा तबला का अविष्कार किया गया हो यह प्रमाणित नहीं होता।[1]

(2) हुसैन खाँ ढ़ोलकिए तबला अविष्कार संबंधी मत—कुछ लोगों के मतानुसार कुदऊ सिंह के समकालीन एब्बे हुसैन ढ़ोलकिए तबले के अविष्कारक थे। ऐसी किंवदंती है कि कुदऊ सिंह के पखावज वादन के साथ एब्बे हुसैन खाँ के ढ़ोलक वादन की प्रतियोगता हुई थी। परंतु कुदऊ सिंह पखावजी की परंपरा के सुप्रसिद्ध ढ़ोलकिया वास्तव में कुदऊ सिंह पखावजी का समकालीन न होकर उनके गुरू लाला भवानीदीन के गुरू भवानीदास पखावजी का समकालीन था और यह प्रतियोगिता खब्बे हुसैन खाँ और भवानीदास के बीच हुई थी। इस प्रतियोगिता में हारने वाले वादक का दाहिना पंजा काट देने की शर्त थी। अंत में, हारने की शर्त के अनुसार हूसैन खाँ ढ़ोलकिए का दाहिना पंजा काट दिया गया। किंतु इस परिस्थिति में भी नियति से हार न मानते हुए बाद में हुसैन खाँ ने ढ़ोलक के दाहिने या प्रमुख भाग को बाँए हाथ की ऊँगलियों से और ढ़ोलक के बाँएँ या गौण भाग को दाहिने हाथ के पंजे विहीन हूँठ से बजाने का विशेष अभ्यास करके अपने ढ़ोलक वादन की कला जीवित रखी। परंतु हुसैन खाँ ढ़ौलकिए के संबंध में उसके समकालीन व प्रत्यक्ष दर्शी लेखक नवाब दरगाह कुली खाँ ने अपने संस्मरण 'मुरक्कए देहली में ऐसी किसी घटना का कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः इस किंवदंती की प्रामाणिकता संदेहास्पद्र है लेकिन तबला वादन के विकास में पखावज के साथ-साथ ढ़ोलक, नक्कारा, ताशा इत्यादि अनेक अवनद्ध वाद्यों की वादन शैलियों व रचनाओं का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जैसे आज भी तबले पर बजाई जाने वाली लग्गियाँ मूलतः ढ़ोलक, नक्कारा, ताशा इत्यादि वाद्यों के वादन से विकसित हुई है। इस संबंध में एक विशेषता यह है कि आज भी अनेक सुप्रसिद्ध तबला वादक अपने तबला वादन में खब्बे हुसैन ढ़ोलकिया द्वारा रचित अनेक 'गतें' व टुकड़े बड़े गर्व से बजाते हे। शायद इसलिए खब्बे हुसैन खाँ को तबला अविष्कारक मानने कि किंवदंती चल पड़ी होगी इन सब तथ्यों पर विचार करने से यह तो कहा जा सकता है कि तबला वादन के विकास में ढ़ोलक वादन शैली और उसके वादकों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। परंतु इसी आधार पर खब्बे हुसैन खाँ ढ़ोलकिए को तबले के अविष्कार का श्रेय देना तर्क संगत नहीं है।

सिद्धार खाँ या सुधार खाँ द्वारा तबला आविष्कार संबंधी मत—आज के युग में प्रायः सभी संगीतज्ञ और तबले से परिचित सभी लोग सिधार खाँ या सुधार खाँ को तबला वाद्य का आविष्कारक मानते हें और प्रायः सभी घरानों के तबला वादक सुधार खाँ को तबला वादन का मूल प्रवर्तक मानते हुए इनके वंशजों और शिष्यों से तबला वादन की विभिन्न शैलियों का विकास मानते है ऐसा कहा जाता है कि सुधार खाँ का वास्तविक नाम सुधार खाँ नहीं था, बल्कि यह उनका उपनाम था और तबले में सुधार करने के कारण ही सुधार खाँ उपनाम पड़ा। सुधार खाँ और उनके समय के बारे में अभी तक किसी मध्यकालीन ग्रंथ में कोई उल्लेख नहीं मिला है। इस संबंध में इस शताब्दी के कुछ लेखकों ने अवश्य चर्चा की है, जो कि इस प्रकार है-

सरमाए इशरत ग्रंथ के अनुसार, ऐसी किंवदंती है कि दिल्ली के पखावाजी सुधार खाँ ढ़ाढ़ी ने दिल्ली के ही एक अन्य पखावजी भगवान दास की प्रति स्पर्धा में पखावज के दो भाग करके तबले को जन्म दिया।

मौलवी मुहम्मद इसहाक ने उर्दू भाषा में 1902 में प्रकाशित अपनी 'रिसालए तबला नवाजी' पुस्तक में सुधार खाँ ढ़ाढ़ी ने भवानीदास पखावजी की चश्मक (स्पर्धा) से तबला ईजाद किया और पखावज से अलग नए बोल मुकर्रर (नियत) करके खूब मश्क की (अभ्यास किया), जब हाय खूब तैयार हो गया तो मुकाबला करके भवानीदास को जक दी (परास्त किया)। इस प्रकार मौलवी मुहम्मद इसहाक तबले का आविष्कारक भवानीदास पखावजी और सुधार ढाढ़ी की वादन प्रतियोगिता के फलस्वरूप हुआ था।

श्री चिरंजीत के मतानुसार सुधार खाँ ढ़ाढ़ी ही तबले के जन्मदाता थे और उनका समय अकबर का राज्यकाल था। अतः श्री चिरंजीत के अनुसार सुधार खाँ ढ़ाढ़ी का समय सोलहवीं शताब्दी था।

स्व. डॉ. लालमणि मिश्र ने अपनी पुस्तक भारतीय संगीत वाद्य में सुधार खाँ ढ़ाढ़ी के साथ एक मृदंगवादक की प्रतियोगिता का उल्लेख करते हुए, उन्हें 19वीं शताब्दी में दत्तिया के कुदऊ सिंह पखावजी का समकालीन माना है।

यदि कालक्रम के अनुसार देखा जाए तो उन्नीसवीं शताब्दी के कुदऊ सिंह पखावजी, जिनका जन्मकाल प्रायः 1815 और मृत्यु सन् 1880 है, उनके गुरू भवानीदीन पखावजी का समय प्रायः अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्ध से उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वाद्ध तक और उनके गुरू भवानी दास पखावजी का समय प्रायः 18वीं शताब्दी का पूर्वाद्ध सिद्ध होता है। इस प्रकार कालक्रम की दृष्टि से भवानीदास पखावजी और सुधार खाँ ढ़ाढ़ी दोनों समयकालीन सिद्ध होते है।

17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और अठारहवीं शताब्दी का पूर्वाद्ध में भी विभिन्न क्षेत्रों के चित्रों में तबला जोड़ी बजाए जाने का चित्रण मिलता है। अतएव सुधार खाँ ढ़ाढ़ी को तबला वाद्य का अविष्कार का श्रेय देना तर्क और तथ्यसंगत नहीं है। इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के पूर्व भी 'ध्रुव' प्रबंध के रूप में ध्रुवपद गान प्रचलित था; किंतु उसे लोकप्रिय बनाने वह उसमें विशेष योगदान के कारण बाद में जन प्रवाद के रूप में उन्हें ध्रुवपद का आविष्कर्ता माना जाने लगा इसी प्रकार तबला वादन को विकसित, प्रतिष्ठित और लोकप्रिय बनाने में विशेष योगदान के कारण सुधार खाँ उपनाम के व्यक्ति का नाम भी बाद में जनप्रवाद में तबला आविष्कारक के रूप में प्रसिद्ध हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

संगीतज्ञों में प्रचलित तबला अविष्कार संबंधी किंवदंतियों से यही निष्कर्ष निकला है कि अठारहवीं शताब्दी तक, उत्तर कलात्मक संगीत में जोड़ी के रूप में बजाए जाने वाले एक विशेष ऊर्ध्वमुखी अवनद्ध वाद्य के लिए 'तबला' नाम जनसमाज में प्रचलित हो चुका था। संगीत में तबला वादन की प्रतिष्ठा व प्रगति प्रायः उस युग के बाद ही दिखाई देती है। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अठारहवीं शताब्दी में तबला वाद्य धीरे-धीरे लोकप्रिय होने लगा था और तबला आविष्कार संबंधी किंवदंतियों से यह भी ज्ञात होता है कि तबला वादन की वर्त्तमान शैलियों का विकास भी उसी युग से होना प्रारंभ हुआ।

मन्त्र गायन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

डॉ. कामेश्वर कुमार

हम पूजा करते हैं, तो ईश्वर को फूल, प्रसाद जल अर्पित करने के अलावा, कुछ मंत्रों का जप भी करते हैं। मंत्र ध्वनि है, कुछ शब्दों का समूह है, जो किसी भी व्यक्ति के आध्यात्मिक रूपातंरण में सहायक हो सकता है। सबसे पहले वैदिक काल में मंत्रों का प्रयोग किया गया था। कालांतर में यह हिन्दू सहित सिख, जैन, बौद्ध धर्म का अभिन्न अंग बन गया है। यह पूर्ण रूप से वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित है। इसमें कल्पना का कोई स्थान नहीं है। यह सच है कि मंत्रोच्चारण से हमारे मन और दिमाग को अपार शांति मिलती है। 'भौतिकी' सिद्धांतों के आधार पर इसे दो रूपों में अध्ययन किया जा सकता है- शब्दों की ध्वनि और आंतरिक विद्युत धारा।

अध्यात्म और ज्योतिष के विद्वानों के अनुसार आधुनिक विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में इसे अल्फा तरंग कहा जा सकता है। कहते हैं कि मंत्रोंच्चारण से आंतरिक विद्युत धारा प्रवाहित होती है। दरअसल, शब्दों की ध्वनि आंतरिक विद्युत धारा प्रवाहित करती है। जब किसी मंत्र का उच्चारण किया जाता है, तो ध्वनि उत्पन्न होती है, जिससे कंपन होता है। यह ध्वनि कंपन के कारण तंरगों में परिवर्तित होकर वातावरण में व्याप्त हो जाती है। इसके साथ ही आंतरिक विद्युत भी (तरंगों में) इसमें व्याप्त रहती हैं। यह आंतरिक विद्युत जो शब्द उच्चारण से उत्पन्न तंरगों में निहित रहती है, शब्द की लहरों को व्यक्ति विशेष और दिशा विशेष की ओर भेजती है। यह इच्छित कार्य को पूर्ण करने में सहायता करती है। अब यह प्रश्न उठता है कि यह आंतरिक विद्युत किस प्रकार जेनरेट होती है? कई अनुसंधानों से यह बात सामने आई है कि ध्यान, मनन, चिंतन आदि की अवस्था में रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप शरीर में विद्युत जैसी एक धारा प्रवाहित होती है (इसे हम शारीरिक विद्युत कह सकते हैं) और मस्तिष्क से विशेष प्रकार का विकिरण उत्पन्न होता है, जिसका नाम अल्फा तंरग मंत्रों के उच्चारण करने पर निकलने वाली ध्वनि के साथ गमन कर दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करती है या इच्छित कार्य करने में सहायक होती है। जिस उद्देश्य से मंत्र जपा जा रहा है, उसमें सफलता दिलाने में यह सहायक सिद्ध होती है। इस मानसिक विद्युत या अल्फा तरंग को ज्ञानधारा भी कह सकते हैं।

विष्णु सहस्रनाम में दिव्य शब्द का स्पष्ट निर्देश है। निश्चय ही इस स्तोत्र का जिस किसी कामना और भावना से जो पाठ करेगा, उसकी सब मनोकामनाएँ पूर्ण होगी। कहा है-

मन्त्रे तीर्थे द्विजे दैवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।।

कहा है 'ऊँ' यह नामाक्षर ही परब्रह्म है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान के समग्र पदार्थ नाम महिमा के प्रख्यापक है

''ओमित्येतदक्षरमिद्

(माण्डूक्य उप. 1) इसके बाद ब्रह्म में चार पादों की कल्पना कर ओम् के अ, उ, म्, इन तीन अक्षरों में ब्रह्म में चार पादों की कल्पना कर और ओंकार का जो मात्रा रहित वाणी का भविष्य स्वरूप है उसे पूर्ण ब्रह्म का चौथा पाद माना है। इस तरह

पूर्व शोध छात्र, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि., दरभंगा

माण्डूक्य उपनिषद् का यह अभिप्राय है कि साधक परब्रह्म और उसके नाम को समझकर नामोपासना में लग जाय तो वह परमात्मा को पा जाता है।

ऊँ भूतभावनाय नमः - प्राणिमात्र की भावना इन्हीं में रहती है, इसलिए इनका नाम 'भूतभावन' है। सुन्दरीतन्त्र के अनुसार सर्वप्रथम च्यवन ऋषि ने यह नाममन्त्र जपा है, अतः च्यवन इस मन्त्र के ऋषि हैं। अन्धे हुए च्यवन ऋषि ने इसको जपने से नेत्र ज्योति पाई। यह मन्त्र अभीष्ट शुभप्रद है, नेत्र ज्योतिप्रद भी है यह मन्त्र गीता में उल्लिखित है। यजुर्वेद अ. 40 मं. 9 में संकेतित है।

ऊँ शर्वाय नमः - ये सब भक्तों के अशुभ को दूर करते हैं, अतः इनका नाम 'शर्व' है। भृगुसंहिता के अनुसार सर्वप्रथम पिप्पलाद ऋषि ने यह नाम मन्त्र जपा है, इसलिए पिप्पलाद इस मन्त्र के ऋषि है। इसको जपने से ज्वरग्रस्त ज्वर से मुक्त हुए। यह मन्त्र ज्वरविनाशक है।

ऊँ निधयेऽव्ययाय नमः - ये कभी भी क्षीण न होनेवाली निधि है। अतः इनका नाम 'अव्यय निधि' है। शैवागम के अनुसार सर्वप्रथम भृगुवंशी जमदग्नि ऋषि ने यह नाम मन्त्र जपा है, इसलिए भृगुवंशी जमदग्नि इस मन्त्र के ऋषि है। इसको 300 वर्ष जपने से जमदग्नि को श्री परशुराम जी पुत्रात्मक अव्यय-निधि के रूप में प्राप्त हुए। यह मन्त्र पुत्र प्रद है। यह मन्त्र अर्थर्ववेद 10/9/32 में संकेतित है।

ऊँ विधात्रे नमः - ये कालान्तर में पूर्वोक्त गर्भस्थ ब्रह्मा को बाहर निकालते है, अतः इनका नाम 'बिधाता' है। शूलिनी तन्त्र के अनुसार सर्वप्रथम जन्मानध दीर्घतमा ऋषि ने यह नाम मन्त्र जपा है, इसलिए दीर्घतमा इस मन्त्र के ऋषि हैं। इसको अपने से दीर्धतमा को पुत्र तथा पुत्र प्रदान सामर्थ्य प्राप्त हुआ। यह मन्त्र पुत्रप्रद है। यह मन्त्र यजुर्वेद 32/10 में उल्लिखित है।

ऊँ स्थविराय ध्रुवाय नमः - ये लीला से काल के अधीन रहने पर भी सर्वदा काल के अधीन न होकर रहते हैं, अतः इनका नाम 'स्थविर ध्रुव' है। बृहत्पाराशरसंतिता के अनुसार वृद्ध लोमश ऋषि ने यह नाममन्त्र जपा है, अतएव वृद्ध लोमश इस मन्त्र के ऋषि हैं। इसको जपने से वृद्ध लोमश दीर्घायुष्य वाले हुए। यह मन्त्र भयनाशक तथा दीर्घायुष्यप्रद है। यह मन्त्र अथर्व. सं. 19/14/4 में उल्लिखित है।

ऊँ ऊर्जिताय नमः - ये शत्रुओं के वध, बन्धन आदि करने में बड़े बलवान् हैं, अतः इनका नाम 'ऊर्जित' है। सुन्दरीहस्य के अनुसार सर्वप्रथम बभ्रुमाली ऋषि ने यह नाममन्त्र जपा है, अतएव बभ्रुमाली इस मन्त्र के ऋषि हैं। इसको जपने से बभ्रुमाली राजयक्ष्मा से मुक्त होकर बलवान् हुए। यह मन्त्र राजयक्ष्मा का नाशक तथा बलप्रद है। यह मन्त्र यजुर्वेद 4/15 में उल्लिखित है।

ऊँ सम्प्रर्दनाय नमः - ये अपनी विद्या से मूढ़ो के तम का मर्दन कर डालते है, इसका नाम 'सम्प्रमर्दन' है। शिवतन्त्र के अनुसार उपमन्यु ऋषि ने यह नाम मन्त्र जपा है, अतएव उपमन्यु इस मन्त्र के ऋषि हैं। इसको जपने से अर्कपत्र-भक्षण से अन्धे हुए उपमन्यु आँखवाले तथा सिद्ध हुए। यह मन्त्र नेत्रजयोतिःप्रद तथा सि्द्धिप्रद है। यह मन्त्र ऋग्वेद 10/129/7 में सङ्केतित है।

ऊँ चन्द्रांश्वे नमः - ये तापत्रय से तपे हुए भक्तो को शान्ति दायक तेजवाले हैं, अतः इनका नाम 'चन्द्राशु' है। शिवरहस्य के अनुसार सर्वप्रथम श्रुतश्रवा ऋषि ने यह नाममन्त्र जपा है, अतएव श्रुतश्रवा इस मन्त्र के ऋषि है। इसकाो जपने से श्रुतश्रवा तेजस्वी तथा शान्तात्मा हुए। यह मन्त्र तेज तथा शान्ति देनेवाला है। यह मन्त्र स्कन्दपुराण में उल्लिखित है।

ऊँ कृतलक्षणाय नमः - इन्होंने उपादेय प्राणियों में आभिमुख्यरूपी लक्षण किया है। अर्थात उपादेयों की ओर अभिमुख होना ही उपादेय का लक्षण बनाया है, अतः इनका नाम 'कृतलक्षण है। शिवरहस्य के अनुसार सर्वप्रथम कामारि ऋषि ने यह नाम मन्त्र जपा है, अतएव कामारि इस मन्त्र के ऋषि है। इसको जपने से कामारि को - स्मरणशक्ति सिद्ध हुई। यह मन्त्र स्मरणशक्तिप्रद है। यह

ऊँ शान्तये नमः - परम समाधि के समय सभी अधिकार इनमें शान्त होते हैं। अतः इनका नाम 'शान्ति' है। भुवनेश्वरी रहस्य के अनुसार सर्वप्रथम गृत्स ऋषि ने यह नाम मन्त्र जपा है, अतएव गृत्स इस मन्त्र के ऋषि हैं। इसको जपने से गृत्स को शान्ति प्राप्त हुई। यह मन्त्र शान्तिप्रद है। यह मन्त्र यजुर्वेद 36/17 में उल्लिखित है।

ऊँ सर्वतश्चचक्षुशे नमः - ये सबके नेत्रों के समक्ष सदा उपस्थित रहते है, अतः इनका नाम 'सर्वतश्चचखु' है। शिवरहस्य के अनुसार सर्वप्रथम गणकाश ऋषि ने यह नाममन्त्र जपा है, अतएव गणकाश इस मन्त्र के ऋषि हैं। इसको जपने से गण्काश के सब प्रकार के नेत्ररोग नष्ट हुए। यह मन्त्र नेत्ररोगनाशक है। यह मन्त्र यजुर्वेद 17/11 में उल्लिखित है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सभी मंत्रों का वैज्ञानिक रहस्य है, जिसका प्रभाव हमारे मन मस्तिष्क पर पड़ता है।

मुस्लिम संस्कार के गीत

डॉ. सुरेन्द्र राम

मुस्लिम संस्कार भी बिहार के ही हर भाषा से मिलता-जुलता है। लगभग एक सा ही है। जहाँ तक मैंने पढ़ा है हिन्दू-संस्कार का मूलरूप विवाह-प्रथा से भिन्न होते हुए भी लोकपक्ष की कई बातों से अभिन्न है। दोनों समाज में एक से ही लगभग विधि व्यवहार शादियों में किये जाते हैं। और विवाह के अवसर पर हिन्दुओं की तरह ही उनके यहाँ भी स्त्रियाँ मधुर स्वर में लोकगीत गाती हैं। वहीं ढोल तथा ढोल के साथ में घुँघरू या चम्मच बजाकर लय दिखाती नाचती गाती है। वहीं जोग, टोना, कोहबर, उबटन आदि के सरल गीत गाकर उत्सव के आनन्द में चार चाँद लगाती हैं। वैसे ही मुस्लिम परिवारों में जैसे शहाना-सेहरा आदि गाए जाते हैं, वैसे ही हिन्दू-घरों में भी गीत होता है। हिन्दू घरों के समान ही मुस्लिम-घरों में भी दुलहा-दुलहिन के संबंध वहीं नैहर, ससुराल वही ननद, भौजाइ, देवर भौजाई आदि के रिश्ते नाते, वही साज-श्रृंगार, तेल उबटन आदि के वही नेगचार, वही सोने चाँदी की जेवर गहनें आदि वही ह्यस-परिहास इन गीतो के भव्य भाव के आधार हैं। हिन्दू घरों में जैसे संस्कार मुण्डन, सोहर, जनेऊ तथा शादी उसी प्रकार मुस्लिम संस्कारों में अकीका की रस्म कहीं कहीं तथा मुसलमानी की रस्म आदि गोद-भराई, छठी, नाम रखने की रस्में भी मुस्लिम परिवारों में खुशी के साथ मनाई जाती है। मुस्लिम धर्म के लोग बिहार के अपेक्षा और राज्यों में भी बसे हैं जैसे बंगाल के मुस्लिम लोग वहाँ से बंगाली व्यवहारों से मिलता जुलता रहेगा उसी अनुसार बिहार में मुस्लिम संस्कार बिहारी संस्कारों से काफी मिलता जुलता है। पूरे शहरों में उनपर अधिक नागरिकता तथा फिल्मी गानें का असर पड़ता जा रहा है। इन गीतों की भाषा प्रायः मिश्रित पायी जाती है।

इनमें अवधि और खड़ी बोली प्रचुर मिश्रण रहता है। मुस्लिम घरों में जो बोली जाती हैं वह भी मिश्रित रूप में ही पायी जाती है। हम देखेंगे कि हिन्दुओं की अपेक्षा मुस्लिम घरों में लड़की वालों का पक्ष कई प्रकार से सुविधाजनक होता है। कोई दिन निश्चित किया जाता है कि आमुख दिन शादी निश्चित है। उस दिन लड़के वाले लड़की के घर बारात लेकर आते हैं तथा जैसे हिन्दुओं में पंडित शादी कराता है, उसी प्रकार मुस्लिमों में काज़ी जी शादी कराते हैं। और शादी अर्थात् निकाह काज़ी जी द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। लड़की वाले लोग अपनी ओर से एक वकील और दो गवाह की व्यवस्था रखते हैं। दैनमेहर इनके यहाँ बड़ी प्राथमिकता रहती है। निकाह के समय वर को वधू के लिये रूपये स्वीकृत करने पड़ते हें। इसे ये लोग दैनमेहर कहते हैं। लड़की वाले लोग ये तय करते हैं कि कितनी रकम लड़की के लिए हो, ये हजार से लाखों तक हा सकती है। इन रकम पर लड़की को आजीवन हक होता है। अब ये सब भी लड़की पर निर्भर करता है कि लड़की चाहे तो रकम लड़के से ले भी सकती है या माफ भी कर सकती है। फिर काज़ी जी लड़के की तरफ जाकर मंजूरी माँगगे और फिर लड़के की तरफ मंजूरी माँगते हैं। दोनों की तरफ से रजामंदी हो जाने के तत्पश्चात् ही निकाह सम्पन्न होता है वरना बारात लौट भी सकती है। फिर इसके बाद लड़की को एक पलंग पर बैठाकर सेहरा बाँध दिया जाता है तथा

पूर्व शोध छात्र, संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा

सेहरे से मुँह ढंक दिया जाता है। फिर लड़के को बुलाकर कुर्सी पर बिठाया या कहें कि एक दूसरे के समीप बिठाया जाता है। फिर लड़के वालों की तरफ से पिटारी आता है जिसे सोहगपुरा कहते हैं। उसमें संदल इत्यादि विभिन्न प्रकार की सुगन्धित चीजें रहती हैं। उसी प्रकार सोहागपुरे को खोलकर सुहागिन स्त्रियाँ संदल (चंदन) पीसती हैं। फिर दुलहा रूपया या अंगूठी से दुलहिन की माँग पर उसी संदल को भरता है। इसके बाद वर कुरान की आयतें पढ़ता है। इसी समय आरसी-माशाहक नामक एक विधि सम्पन्न की जाती है। जिसमें दुलहा आइने में दुलहन का अक्स देखता है। इस प्रकार विवाह की रस्म पूरी होती है।

अब जैसे हिन्दु धर्म में पन्द्रह दिन पहले से शादी का माहौल लगने लगता है, ठीक उसी प्रकार मुस्लिम संस्कारों में भी पन्द्रह दिन पहले से ही दोनों पक्षों की ओर गीत शुरू हो जाती है। अनेक प्रकार के लोकगीत स्त्रियों की स्वर लहरी में लहराने लगेगी। जैसे- सहाना, जोग, टोना, सोहाग, सोहरा, मेहंदी-गीत, चूड़ी गीत, ढेरी, विदाई, कोहवर इत्यादि।

सहाना गीत- विवाह के अवसर पर तीन दिनों तक 'सहाना गीत' गाया जाता है। इस गीत में कमर और लम्बे बालो वाली दुलहन को दुलहे द्वारा ले जाने तथा दादी और माँ के द्वारा दुलहन के मुँह को देखकर संतोष करने का उल्लेख है।

कहाँ का सवदागर लिए जा है जी अम्मा।
पतली कमरिया दुरिया बाल है जो अम्मा।।
अम्मा कहाँ का सवदागर लिए जा है जो अम्मा।
दादी सब दादी बीवी, मुख देखे है जो अम्मा।
घुँघट खोले है जी अम्मा।
पहली कमरिया छुरिया बाल है जो अम्मा
अम्मा, कहाँ का सवदागर लिए जा हे जो अम्मा।
कहा का बनजारा लिए जा है जो अम्मा।।2।।

माँझा (उबटन)- विवाह के अवसर पर सोने-चाँदी की कटोरी में उबटन, तेल आदि रखकर माँझा (उबटन) की विधि सम्पन्न करने का उल्लेख इस गीत में हुआ है।

काहे कटोरी तेरा उबटन हाँ जी बेटी, काहे कटोरी है तेल।
सोने कटोरी है तेरा उबटन, और रूपे कटोरी है तेल।।
कौन लगावे तेरा उबटन, हाँ जी बेटी, कौन लगावे तेल।
दादी लगावे उबटन, हाँ जी बेटी, नानी लगावे तेल।
सहानी लाडो कौन लगावे तेल।
अम्माँ लगावे तेल हाँ जी लाडो चाची लगावे तेल।
बाली भोली कौन लगावे तेल।
जहाँ जी बेटी, कौन लगावे उबटन, कौन लगावे तेल।।2।।

मेहंदी- विवाह के दिन दुलहे और दुलहन को मेहंदी लगाने की विधि सम्पन्न की जाती है। इस गीत में तलहथ्थी में कलात्मक ढंग से मेहंदी रचाये जाने का उल्लेख हुआ है।

दादा लखिया की बदश्ही, सहानी लाडो के मेहंदी रचाई।।1।।
नाना लखिया की बदशाही सहानी लाडो के हाथ मेहंदी लगाई।।2।।
बाबा लखिया की बदशाही सहानी लाडो के हाथ मेहंदी रचाई ।।3।।
चाचा लखिया की बदशाही सहानी लाडो के हाथ मेहंदी रचाई ।।4।।
भइया लखिया की बदशाही सहानी लाडो के हाथ मेहंदी रचाई ।।5।।

सेहरा-

ऐसे वैसे देस में लोभना, मियाँ बंदरा।
दान माँगे दुलहा, दहेज माँगे दुलहा।।1।।
ऐसे वैसे देस में लोभाना मियाँ बंदरा।
दान माँगे दुलहा, दहेज माँगे दुलहा।।2।।
छोटका साला दहेज माँगे दुलहा
कुटनिया के देस में लोभना मियाँ बंदरा।
छिनलिया के देस में लोभाना मियाँ बंदरा।।3।।

जोग- इस गीत में 'जोग' लादकर लाने का उल्लेख है। विवाह में दुलहे-दुलहन की रक्षा के लिए 'जोग माँगने' की विधि सम्पन्न की जाती है।

दादा हमारे नयना जोगी है री माइया।
दादी हमारी मनमोहिनी री मइया।
हल्दी लगाय जोग लाद लाए जो।।1।।

माना हमारे नयना जोगी है री मइया।
नानी हमारी मनमोहिनी री मइया।
छकडे लगए जोग लाई री मइया।।2।।
अब्बा हमरे नयना जोगी है री मइया।
अम्मा हमरी मनमोहिनी री मइया।
छकडे लदाए जो लाई री मइया।।3।।

टोना- घर के सभी लोगों से कमसिन दुलहन के रक्षार्थ, उसके सुंदर मुख पर टोना पद देने का अनुरोध इस गीत में किया गया हे।

गोर सुंदर मुख पर बारि के पद डालो री टोना।
सुन बेटी के दादा, सुन बेटी के नाना।
दादा गाफिल मत रहो, चैन से पढ डालो री टोना।
नान गाफिल मत रहो, चैन से पढ डालो री टोना।।1।।
सुन बेटी के बाबा, सुन बेटी के चाचा।
बाबा, गाफिल मत रहो, चैन से पढ डालो री टोना।
चाचा, गाफिल मत रहो, चैन से पढ डालो री टोना।।2।।

सहाना- सुहाग की रात के आगमन पर दुलहन के वस्त्राभूषणों की प्रशंसा इस गीत की गई है।

आई सोहाग की रात सखी
माँगे लाडो की टीका सोभो, मोतिया की आई बहार।
बहार सुखी, आई सोहाग की रात।।1।।
नाक लाडो के बेसर सोभे, चुनिये की आई बहार।
बहार सखी, आई सोहाग की रात।।2।।
कानो लाडो के बाली सोभे, झुमके की आई बहार।
बहार सखी, आई सोहाग की रात।।3।।

लोक नाट्य के विविध के रूप

डॉ. संगीत कुमार झा

मानव मनोरंजन के विभिन्न रूपों से अपनी मानसिक क्षुधापूर्ति करता आया है। जिसमें नाटक सर्वश्रेष्ट है। समाज के शिक्षित वर्ग के लिये साहित्यिक नाटकों की रचना होती रही है और जनसाधारण के लिए लिखे जानेवाले नाटक लोकनाट्य कहलाये। ये दोनों नाट्य पद्धतियाँ एक-दूसरे से भिन्न होकर भी एक-दूसरे पूरक रही हैं। लोकनाट्य सर्वत्र जनसुखाय रहा है और सामान्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो सुसंस्कृत वर्ग की सीमाओं से मुक्त, प्राकृतिक परिवेश में जीवन-यापन करता है। शताब्दियों से लोक नाट्य परंपरा लोगों का मनोरंजन करती आ रही है। हमारे विचार से यही रूप पंचम वेद की संज्ञा का अधिकारी है।

लोक नाट्य सामान्य जन अथवा लोक के विविध भाव पक्ष को अभिव्यक्त करने का एक सर्वसुलभ रंजनकारी माध्यम है। इन लोक नाट्यों की प्रस्तुति इतनी निश्छल होती है कि साधारण अनपढ़ लोग भी हँसी-हँसी में ही अपने-अपने परिवेश की विसंगतियों या कमजोरियों को देख सुन लेते हैं।[1] इसलिए हम कह सकते हैं कि 'लोक नाट्य' जन-जीवन के उल्लास का सामूहिक अनुष्ठान है।

लोक नाट्य कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक जीवन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रवेश करने का एक सहज माध्यम भी है। क्योंकि इसकी प्रकृत्ति श्रव्य-दृश्य की होती है जिससे आमजन में विशेषकर ग्रामीण परिवेश में नाट्य की यह विधा अत्यंत लोकप्रिय हो जाती है। ठेठ गँवारू भाषा, प्रचलित लोक-कथा, मुहावरेदार कथोपकथन इसके प्राण तत्व होते हैं। कारण कि इसके दर्शक एवं अभिनेता प्रायः एक सीमित दायरे में रहकर, अपने जीवन के मिट्टी पानी से जुड़कर, प्रकृति के संग एकाकार होकर, इस विधा को देखकर, खेलकर जी रहे होते हैं।

भारत में प्रचलित लोक नाट्यों में दृश्यबोध और प्रकाश का काफी कम योगदान होता है। सामान्यतः खाली जमीन या लकड़ी के चबूतरे या मंडप बना लिये जाते हैं। आकर्षण के लिये मंडपों को सजा भी लिया जाता है। मंचीकरण के रूप में दृश्यबोध का प्रयोग नहीं के बराबर होता है।

लोक नाट्य की नाट्य भाषा में शब्द और अभिनय का ही बाहुल्य है। नाटक की अभिव्यक्ति ही इन दो घटकों से प्राप्त होता है। जगदीश चंद्र माथुर ने वाचिक अभिनय और गान या शब्द को ही केन्द्र बताया है। अभिनय बहुधा नृत्य के साथ मिलकर आता है जिसमें अभिनय के आधार पर खड़ा रहता है परन्तु अभिनय के आयामों या संभावनाओं को सीमित कर देता है। लोकनाट्य संगीत के बिना कभी पूरा नहीं हो पाता। इस तरह लोकनाट्य सहज रूप से गीति नाट्य के स्वरूप पाने का प्रयास करता है। इस लोकनाटक में भाव या विचार पर आधारित संक्षिप्त कथा का विधान होता है। गीतिनाट्य एवं लोकनाट्य में छोटी कहानी एक क्षण विशेष में संकुचित केन्द्रित हो जाती है और इसी क्षण की क्षमता पर ही नाटक का नाटकत्व आवृत रहता है।[2] लोकसंगीत लोकनाट्य का प्राणतत्व भी होता है। लोकनाट्य की विशेषता यह है कि ये जनमानस के मनोविज्ञान के अनुकूल होते हैं। इनके संगीतबद्ध संवाद सामान्यतः तार सप्तक में गाये जाते हैं। तार सप्तक में गाये जानेवाले संवादों का प्रयोग दूर-दूर तक बैठे दर्शकों को सुनाने के लिए होता है। इसके साथ मेल खाती अभिनय शैलियाँ प्रमुख हो जाती है। इस तरह भरतमुनि के नाट्यशास्त्र

का लोकधर्म स्वयंमेव पुष्ट हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत नाटक के शामिल शिल्प से मुक्त, लोकनाट्य अपनी-अपनी स्थानीय संस्कृति के अनुसार विकसित होते रहे। बंगला में 'जात्रा', आंध्र में 'यक्षगान', महाराष्ट्र में 'तमाशा', उत्तर प्रदेश में 'स्वांग' (नौटंकी), गुजरात में 'भवाई', राजस्थान तथा ब्रज में 'रास' एवं बिहार में 'बिदापत' एवं 'जट-जटिन' अत्यंत प्रसिद्ध लोकनाट्य है।

अतः इन लोकनाट्यों का पृथक रूप से अवलोकन करना विषय के समीप ले जाएगा।

यात्रा (जात्रा) : इसका प्रयोग जूलूस या यात्रा उत्सव के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। श्री सुकुमार सेन के अनुसार देवपूजा निमित्त मेला और नाट्यगीत 'यात्रा' के प्रारंभिक स्वरूप हैं।[3]

यात्रा का नाट्यरूप कितना भी प्राचीन हो परन्तु इसका विकास मध्यकाल में चैतन्य महाप्रभु द्वारा ही हुआ। चैतन्य महाप्रभु स्वयं अभिनय करने के साथ अपने शिष्यों को भी यात्रा के लिए प्रोत्साहित करते थे। विशिष्ट प्रसंग चुनकर पात्र चयन होता था जिसमें संगीत और अभिनय की प्रमुखता रहती थी। ईश्वर प्रेम और उनकी अवतार लीला इसका विषय था। बाद में लौकिक कथाओं पर आधारित नाटक का अभिनय होने लगा। आज भी बंगाल में प्रतिमा जुलुस के साथ भक्तगण देव चरित्र का अभिनय करते हैं।

यक्षगान : पश्चिमी तट का यक्षगान (किसी हद तक कर्नाटक से कन्नड़ प्रदेश तक सीमित) बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया। इसके कथानक रामायण, महाभारत, भागवत से चुने जाते हैं। यक्षगान रात्रि भर का प्रदर्शन है। यक्षगान एक नृत्य और गायन प्रधान लोकनाटक है। इस आधार पर यह लोकनाट्य गीतिनाट्य के स्तर तक विस्तार पा लेता है। इस आधार पर इस नाटक के पात्र मानसिक स्तर पर भी वार्तालाप कर रहे होते हैं। डॉ. बच्चन सिंह अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक' में लिखते भी हैं- 'गीति नाट्य का प्रारंभ मानसिक उद्वेग से होता है।'[4] यक्षगान पहले नृत्य विशेषों पर आधारित होते थे परंतु कालांतर में गेयता आने के कारण ये गेय नाटक भी कहलाये जाते हैं। यक्षगान नाट्यशास्त्र से गंभीरतापूर्वक प्रभावित लोकनाट्य है।

तमाशा : 'तमाशा' महाराष्ट्र का अत्यंत प्राचीन लोकनाट्य है। लगभग 12वीं शताब्दी से ये प्रचलित है। मुगल साम्राज्य के पहले महाराष्ट्र की अपनी नाट्य परंपरा थी। तमाशा का प्रारंभ गणेश वन्दना से होता है। पूर्वाभ्यास के बिना ही प्रसंगानुकूल संवाद बोले जाते हैं। संवाद के साथ-साथ हावभाव व त्वरित बुद्धि का सामंजस्य बहुत जरूरी होता है। इस लोकनाट्य में नर्तकी का विशेष महत्व होता है। तमाशा की यह परंपरा मराठी नाटकों में और आज के युग में सिनेमा जगत में भी प्रचलित है।

स्वांग : यह उत्तर प्रदेश का प्राचीन लोकनाट्य रूप है। इसे नौटंकी के नाम से भी जाना जाता है। स्वांग के मूल में नकल अर्थात अनुकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। अभिनय गीतों द्वारा होता है। नौटंकी में लोकनाट्य के समस्त तत्वों का समावेश होता है। यक्षगान की तरह इसका प्रदर्शन भी रात देर से शुरू होकर सुबह तक चलता है। उस्ताद इन्दर मन छीपी, चिरंजीलाल, नत्याराम शर्मा आदि प्रसिद्ध स्वांग लेखक हैं। नत्थराम ने पारसी रंगमंच से प्रभावित होकर इसमें अनेक परिवर्तन किए। उत्तर भारत का यह एक अत्यंत लोकप्रिय नाटक है।

भवाई : इस नाट्य रूप में गीत, नृत्य और संगीत का समन्वय होता है। गुजरात के लोकनृत्यों में इसका एक अलग महत्व है। भवाई में विविध प्रसंग जुड़े होते है। संस्कृत नाटकों की अनेक नाट्य रूढ़ियाँ इसमें परिवर्तित रूप में पाई जाती हैं।

भवाई का मुख्य रस श्रृंगार या हास्य होता है। सामाजिक बुराईयों का प्रदर्शन करना इसका उद्देश्य होता है। इसके लिए गुजरात में एक कहावत है- 'रात थोड़ी वंश घने' इसका अर्थ यह कि इसमें उतने प्रकार का अभिनय किया जाता है कि रात भी छोटी होती है और यही उक्ति इसकी लोकप्रियता का कारण है।

रासलीला-रामलीला : उत्तर भारत में रामलीला लोकप्रिय है। दशहरे के आसपास इसका आयोजन किया जाता है। भगवान राम की जीवन लीलाओं का प्रदर्शन अभिनय द्वारा किया जाता है, साथ में कथा भी चलती रहती है। इन्हें प्रस्तुत करनेवाली

बड़ी-बड़ी रामलीला मंडलियाँ होती है। कहीं-कहीं पर तो बारह महीनों तक इसका प्रदर्शन चलता रहता है। भगवान की भक्ति और आस्तिकता का यह सजीव साकार रूप होता है इसी प्रकार ब्रजभूमि में रासलीला का प्रचार है। कृष्ण के जीवन की घटनाओं को वहाँ के लोग अपने जीवन का अविभाज्य अंग समझते हैं। रास का प्रदर्शन हर रोज होता है। काव्यात्मक रूप में कृष्णलीला गायी जाती है और छोटे बालक इसका अभिनय करते हैं। लोकनाट्य का प्रमुख प्राणतत्व ये रास ही कहे जा सकते हैं।

विदापत : 'विदापत' पूर्वांचल भारत के लोकनाट्य रूप में सर्वाधिक पुराना है। इसमें प्राचीन नाट्यरास का अवशेष स्वतः रूप से स्थान पाते हैं। जयदेव के गीत गोविन्द के संरचनाबद्ध नृत्य, अभिनय और गान, विद्यापति की मोहक पदावली और ब्रज के रास आदि परंपराओं का स्पष्ट झलक इस लोक नाट्य में देखने को मिलता है।[5] 'बिदापत' विशेष रूप से मिथिलांचल का प्रसिद्ध लोकनाट्य है। मध्यकालीन वैष्णव भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि में इसका वर्तमान स्वरूप अस्तित्व में आया। नाट्य की शुरूआत प्रस्तावना, वंदना से और अंत मंगलगान से होता है। बिदापत लोकनाट्य के प्रदर्शन के लिए किसी स्थायी मंच की आवश्यकता नहीं होती बल्कि मुक्ताकाश में समतल भूमि पर यह नाट्य सफलता पूर्वक किया जाता है। इसके प्रमुख पात्रों में-मूलगैन, समाजी, बिकटा इत्यादि होते हैं।

जट-जटिन : जट-जटिन मिथिलांचल का आनुष्ठानिक लोकनाट्य रूप है। अषाढ़-सावन और भादव मास के शुक्ल पक्ष की रात्रि में वर्षा के आह्वान के लिए इस लोकनाट्य का प्रदर्शन किया जाता है। इस नाट्य के प्रस्तोता और प्रेक्षक केवल स्त्रीगण होती हैं। नृत्य और सहगान सहित प्रस्तावना, छोटे कथानक, समतुल्य पात्र योजना, प्रश्नोत्तर शैली के संवाद गीत, सरल सहज और प्रवाहमान भाषा, मुक्ताकाश रंगस्थली और आनुष्ठानिक उद्दीपन जट-जटिन को विशिष्ट लोकनाट्य सिद्ध करता है।

जट-जटिन का कथानक पूर्ण विकसित न होकर छोटे-छोटे प्रसंग में बँटा हुआ है। इस लोकनाट्य में परिवार और दांपत्य जीवन के विभिन्न पक्ष उद्घाटित होते हैं, जैसे- विवाह पूर्व मंगनी प्रसंग, प्रेमी-प्रेमिका के हास- परिहास, विवाह संस्कार की उपयोगिता, वैवाहिक जीवन की जटिलता, स्त्रीगण के नैहर के प्रति आसक्ति, प्रेम के संग गृहस्थी की भार-संचालन की अनिवार्यता, सुख-दुख के व्यापकता की सफल और हृदयस्पर्शी उद्घाटन जट-जटिन के कथानक के सार तत्व होते है। इसके अतिरिक्त जट-जटिन में बंका भकुली का विवाह रोहीदास का इलाज, लुखबा का मृत्यु जैसे छोटे-छोटे प्रसंग भी प्रदर्शित होते हैं।

संदर्भ सूची

1. गौतम डॉ. कला, हिन्दी गीति नाट्य, पृ.-42
2. नगेन्द्र डॉ., आधुनिक हिन्दी नाट्य पृ.-111
3. सेन सुकुमार, बंगला साहित्येतर कथा, पृ.-142
4. सिंह बच्चन, हिन्दी नाटक, पृ.-171
5. डॉ. भारती ओमप्रकाश, मैथिली लोकनाट्य, पृ.-75

जैनकालीन संगीत : एक विचार

हेमलता कुमारी

भारतीय इतिहास में धर्म की दो चिंतनधाराओं की परंपरा का विवरण मिलता है। एक ब्राह्मण परंपरा है जो सर्वाधिक प्राचीन और प्रभावशाली है। इस परंपरा के दायरे में ही भारतीय विकसित हुआ है। दूसरी परंपरा का नाम श्रमण परंपरा है, जिसने अहिंसा को मूल धर्म के रूप में स्वीकार किया। इस परंपरा ने संकीर्णताओं से मुक्ति दिलाकर मनुष्य को सत्य, अहिंसा और प्रेम की शक्ति से परिचित कराया। ध र्म चिंतन की इस परंपरा के कारण ही भारत को विश्व गुरु का दर्जा मिला। अफसोस, श्रमण परंपरा को भारतीयों ने गौण रूप से सवीकार किया। श्रमण परंपरा को सर्वाधिक महत्त्व चीन, तिब्बत और जपान में मिला। ये देश विज्ञान, तकनीक और संस्कृति में विश्व में अग्रणी है। और इस चिंतनधारा का जनक देश भारत आज भी हर क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। श्रमण परंपरा में मुख्य रूप से दो धर्मों की चर्चा होती है। एक है बौद्ध धर्म और दूसरा है जैन धर्म। इन ध र्मों की उत्पत्ति छठी शताब्दी ई. पू. मानी जाती है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध माने जाते हैं, जबकि जैन धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर। इन दोनों महापुरुषों ने वैदिक धर्म में आई कुरीतियों का विरोध करके एक स्वच्छद और पवित्र धारा का विकास किया। बुद्ध की मान्यताएँ त्रिपिटकों में संगहीत है तथा महावीर की ममान्यताएँ जैन ग्रंथों में।

जैनकालीन समाज में संगीत की स्थिति बेहतर थी। खास बात यह है कि इस युग में संगीत को सभ्य व्यक्ति के लिए आवश्यक माना गया है। एक सभ्य नागरिक के लिए सुंदर वस्त्र तथा अलंकार इत्यादि के साथ-साथ संगीत भी आवश्यक अंग के रूप में मान्य था।[1] संगीतजीवी वर्ग को पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तथा निम्न जातियों में संगीत का प्रचलन शुरू हुआ और वे भी संगीत के कारण प्रतिष्ठा के पात्र बने। उदाहरणार्थ, 'डोम्ब' जाति के लोग अपनी संगीतप्रियता के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध थे।[2] संगीतज्ञों एवं नर्तकों को राज्याश्रय भी प्राप्त होता था। उनकी नियुक्ति राज्यसभाओं में होती थी। कुशल नर्तकियाँ राज्यसभा में सम्मान का पात्र होती थीं। कुल मिलाकर संगीत को एक सम्मानजनक, स्पुहनीय और लोकतांत्रिक मूल्य की प्राप्ति हुई। जाति-भेद से ऊपर उठकर सामान्य जनता में इसकी व्याप्ति जैनकालीन समाज की विशिष्ट उपलब्धि है। वस्तुतः जैनयुग में संगीत को ब्राह्मणवादी संकीर्णताओं से मुक्त करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। इस प्रयास के परिणामरूस्वरूप संगीत सर्वसाधारण के हाथों में भी पहुँचा। शुद्र एवं अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों में संगीत के प्रति चेतना जागृत हुई। संगीत की नींव महावीर स्वामी के सिद्धांतों पर रखी गई। इस प्रकार के संगीत ने संगीत के धरातल को पुनः ऊँचा किया। इस युग में पुराने जातीय बंधनों को तोड़कर स्वच्छंद रूप से सर्वसाधरण के लिए उपलब्ध ा हुआ। भिन्न अथवा शुद्र जाति के लोग भी संगीत साधना के साथ-साथ संगीत एवं नृत्य आदि का आनन्द उठाने लगे।

जैनग्रंथों में संगीत संबंधी सिद्धांतों का प्रचुर वर्णन मिलता है। ''जैनग्रंथों में 'पूर्वगत स्वर प्रभृत' नामक एक ग्रंथ है, जिसमें स्वरों से उद्‌भुत होने वाली मूर्च्छनाओं तथा एकादशा अलंकारों का विवरण

शोध छात्रा, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि., दरभंगा

मिलता है। 'ठाणांग' नामक सुत्त में स्वरों की उत्पत्ति, सप्तस्वरों का प्राणियों की ध्वनि से संबंध, स्वरों का मानव स्वभाव से संबंध, ग्राम तथा मूर्च्छनाएँ, गीत के गुण तथा दोष इत्यादि विषयों का विवरण पाया जाता है। षड्ज अग्रज है, उरस्थान से ऋषभ उद्भव होता है। कण्ड से गांधार, मध्य से मध्यम, नासा से पंचम तथा मतंग की बृहद्देशी में पाई जाती है। विभिन्न स्वरों की उत्पत्ति के स्थान के संबंध में इनमें भिन्नता है। जैन परंपरा के अनुसार संगीत अथवा गांधर्व का भी समावेश भी उन विषयों का समन्वय किया जाता है, जिनका प्रवर्तन महावीर न किया था''[3]

वैदिक धर्म की भाँति जैन धर्म भी संगीत से घनिष्ठतम रूप से संपृक्त था। कुछ इतिहसकार मानते हैं कि जैनकाल में अन्य कालों की भाँति सामवेद तथा उसकी शिक्षाओं का अक्षुण्ण रहा। चौदह विद्या स्थानों के अंतर्गत सामवेद का अध्ययन ब्राह्मण वर्ग के द्वारा किया जाता था। नंदी सूतों में वेद, पुराण, शिक्षाविद डंग तथा गांधर्व आदि कलाओं को लौकिक ज्ञान के अंतर्गत माना गया है। वैदिक वाङ्मय की उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित आदि के माध्यम से होने वाली स्वरोच्चारण प्रणाली जैन सुतों के पठन-पाठन में भी पूर्णतः प्रचलित अथवा व्यवहृत दिखाई देती है।''[4]

इस तरह जैन धर्म संगीत के महत्त्व को केवल स्वीकार ही नहीं करता, उसका भरपूर उपयोग व विकास एवं प्रचार-प्रसार भी करता है। जैनकालीन संगीत की विशेषता यह है कि वह वैदिक धर्म की सांगीतिक उपलब्धियों को आत्मसात् करते हुए उसकी कृपणता से उसे मुक्त करता है और सर्व-साधारण में उसका प्रचार-प्रसार करता है। संगीत को ब्राह्मणों के एकाधिकार से मुक्त कराने में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। श्री भगवत शर्मा के अनुसार, ''जैनकाल में ब्राह्मणों के महत्त्व को कम करने तथा वर्णाश्रम के बंधनों को तोड़ने का प्रयास किया जाने लगा था। फलस्वरूप संगीत पर ब्राह्मणों का जो एकाधिकार था, वह समाप्त होने लगा''[5] हालाँकि यह इतना आसान नहीं रहा होगा। इसके लिए जैनियों को संगीत शास्त्रीय चिंतन की साधन अवश्य करनी पड़ी होगी। डॉ. अशोक कुमार 'यमन' के अनुसार जैनियों ने संगीत संबंधी काफी महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का लेखन किया। वे लिखते हैं, ''विभिन्न जैन संगीतज्ञों ने संगीत से काफी महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का कार्य भी किया है; जैसे, सुधाकलश ने 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार', पार्श्वदेव ने 'संगीतसमयसार' तथा मंडन ने 'संगीत मण्डन' आदि। जैन ग्रंथों में वाद्यों के बारे में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इन ग्रंथों में वाद्यों की एक बड़ी लंबी सूची मिलती है, अन्य ग्रंथों में जिसका अभाव है।''[6]

ई. सन् तीसरी शताब्दी में 'तिवाकरम' नामक जैन कोश की रचना हुई, जिसमें दक्षिण भारत के प्राचीन संगीत से संबंधित काफी महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध है। इस ग्रंथ में रागों के दो प्रकार बताए गए हैं- पूर्ण और अपूर्ण। यानी सभी सात स्वरों के राग एवं पाँच या छः स्वरों के राग। पूर्ण राग को दक्षिण भारत में 'पण' कहा जाता है और अपूर्ण को 'तिरम'। इसमें बाईस श्रुतियों का भी उल्लेख है तथा सात स्वरों के तमिल नामों के साथ-साथ द्रविड़ के सात रागों का भी उल्लेख इसमें प्राप्त होता है।

स्पष्ट है कि जैन-काल संगीत को पुनर्प्रतिष्ठित करने और उसे लोकतांत्रिक मूल्यों से जोड़ने के साथ-साथ उसके सैद्धांतिक पक्ष के विकास में महत्त्वपूर्ण है। जैन-काल में संगीत संबंधी प्रचुर सामग्री के अवलोकन हेतु जैनियों के 'ठाणांग सूत्र' तथा 'अनुयोगद्वार सुत्त' विशेष रूप से उपयोगी है। अनुयोगद्वार में स्वर, गीत, वाद्य तथा मूर्च्छना आदि गांधर्व के ग्रियों का सूत्रबद्ध विवरण मिलता है।

जैन गंथों में नृत्य संबंधी विवरण भी मिलते हैं। विवरण के अनुसार 'नृत्य तथा नाट्य महावीर की जीवनी पर आधारित होते थे और इसमें भाग लेने वाले कलाकारों को समुचित सम्मान मिलता था। वाद्य-वृंद अर्थात् कुतप तथा नृत्य का प्रदर्शन कलात्मक आकृतियों के माध्यम से दिखाया जाता था। स्वास्तिक, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मतस्य, रीवत्स तथा दर्पण इत्यादि ऐसी ही नाट्य कृतियाँ थीं, जिनका सादृश्य भरतोक्त पिण्डीबंधों से सहज स्थापित किया जा सकता है। नृत्य-नाट्य के अंतर्गत द्रुत, विलंबित, दुयाविलंबित, अंचित, रिभिय, आरभड्, भसोला, आरभडसोला संकुचिय, पसारिय, भंतसभांत तथा उप्पययपवत्त इत्यादि अंगों का उल्लेख जैन ग्रंथों में

प्राप्त होता है। इनमें से कुछ नृत्य लयों के कुछ अभिनय प्रकारों के तथा कुछ नृत्य प्रकारों के निर्देशक प्रतीत होते हैं।'[7]

गीत एवं नाट्य के अतिरिक्त जैन ग्रंथों में वाद्यों के विषय में जानकारी दी गई है। 'नायाध म्मकहा' में वाद्यों के अंतर्गत वीणा, वल्लकी, भंमरी कच्छपि, भम्मा, तथा शङ्भ्रामरी वाद्यों के विषय प्राप्त होता है। भेरियों के भेद और उनकी वादन विधि भी इस ग्रंथ में वर्णित है। भेरी का उपयोग युद्ध के लिए महत्त्वपूर्ण था परंतु जैन-धर्म तो अहिंसावादी था। ऐसी स्थिति भेरी का उपयोग जैनियों के द्वारा होता ही नहीं होगा, अगर होता भी होगा तो किसी घटना की सूचना देने के लिए होता होगा। 'ठाणांग' नामक जैन-ग्रंथ में वाद्यों के द्वारा ही सप्तस्वरों की उत्पत्ति बताई गई।[8]

संदर्भ :-

1. 'यमन' डॉ. अशोक कुमार, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 202
2. 'यमन' डॉ. अशोक कुमार, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 220
3. 'यमन' डॉ. अशोक कुमार, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 220
4. 'यमन' डॉ. अशोक कुमार, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 221
5. 'यमन' डॉ. अशोक कुमार, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 222
6. शर्मा श्री भगवतशरण, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 35
7. 'यमन' डॉ. अशोक कुमार, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 35
8. 'यमन' डॉ. अशोक कुमार, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 221

भोजपुरी लोकगीतों में वियोग शृंगार

प्रेम रंजन सिंह

भोजपुरी लोकगीतों में अनुभूतिजन्य अभिव्यंजना के भाव मुखरित है। जिसमें लोक जीवन के समस्त भाव व्यंजित है। शृंगार रस को 'रस राज' कहा गया है। विद्वानों का कथन है कि विभावानुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से परिपक्व अवस्था में पहुँचा हुआ रति स्थायी भाव शृंगार रस में परिणत होता है।[1] शृंगार रस के दो भेद होते हैं - (1) संयोग शृंगार और (2) वियोग शृंगार। संयोग शृंगार को सम्भोग शृंगार और वियोग शृंगार को विप्रलम्भ शृंगार भी कहा जाता है। संयोग शृंगार में जहाँ नायक-नायिका की मिलन अवस्था का वर्णन किया जाता हैं वहीं वियोग शृंगार में नायक नायिका में परस्पर उत्कट प्रेम होने पर भी उनका मिलन नहीं हो पाता।

वियोग शृंगार की धारा तो लोकगीतों की प्राण है जिसके सामने बड़े-बड़े कवियों के कलात्मक कविता भी फीकी पड़ जाती है। जो सरल सहज शब्दों में अपनी अनुभूतियों को लोक जन व्यक्त करते हैं उस अनुभूति को कलात्मक शब्दों द्वारा व्यक्त भाव भी अपूर्ण लगता है। भोजपुरी क्षेत्र की सीमा विस्तृत आबादी की दृष्टि से भी घनी है। यहाँ के आम जन रोजी रोटी की तलाश में अपना गाँव-जवार छोड़ के सुदूर शहरों में जाते रहे हैं। घर पर केवल महिलाएँ, बच्चें और वृद्ध रहते हैं। इस अलगाव से स्त्रियों के मन में विविध भाव उमड़ते घुमड़ते रहते हैं,[1] जो टूटी-फूटी बोली में उबड़-खाबड़ स्वरों के द्वारा व्यक्त होता है, जो उनके हृदयगत भावनाओं का उद्‌गार है। शब्दों में ऐसी तरलता होती है कि जो भी सुनता है उसके हृदय में एक करूणात्मक भाव जागृत हो जाती है।

गीत-1

उड़ि के तु चल जा जिया
पियवा के देसवा में
कि आहो मेरे रामा
मोर मनवा पिउ के रंग में रंगल हो राम
तबसे ना निंदिया आवे राति ना सपनवा भावे
कि आहो मोरे रामा पिया के सुरतिया
दिलवा में बसल हो राम[2]

प्रस्तुत गीत भिखारी ठाकुर द्वारा रचित लोक नाटक विदेसिया का हैं जिसमें नायिका के पति परदेस में हैं और नायिका पति के याद में हमेशा खोई रहती है उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। नायिका कहती है कि पति के याद में न ठीक से सो पातें हैं और न ही कोई कार्य अच्छा लगता है।

विदेसिया नाटक के एही एक प्रसंग में उसकी नायिका अपनी विरह दशा का वर्णन निम्नलिखित गीत से करती है-

गीत-2

कि आहो मोरे रामा, जब से परदेस में बाड़न रहल हो राम।
कि आहो मोरे रामऽ, तनी ना सोहात बा कवनो टहल हो राम
कि आहो मोरे राम कवनी बेयरिया आके बहल हो राम[3]

शोध छात्र, भोजपुरी विभाग, बी.आर.ए.बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

गीत-3

झुठी पिरितया तोहार दगाबजऊ
तोहरी पिरितिया बलुआ के भितिया
पानी परत ढह जाए दगाबजऊ
कह गए हम आएब चारे महिनबा
बीत गये बारहे बारिस दगाबजऊ[4]

उपर्युक्त गीत में नायिका नायक से कहती है कि तुम्हारा प्यार झूठा है, तुम्हारा प्यार बालू के भीत (दीवार) के समान है जो पानी पड़ते ही ढ़ह जाता है। चार महीना में आने का वादा करके बारह व़र्ा बीत गए और आप आए नहीं।

गीत-4

गरजे बरसे रे बदरवा, पिया बिनु मोहे ना सोहाय
घाटा गरजे बिजुरी चमके चातक सोर मचाय
कामिनि काम विरह व्याकुल व़ा, गिरे पहाड़ खाय
मदन व्यथित तन झूमन लागे, पल-पल जिया घबराय
मय विरही आाा निरखी सखी, नन्द श्याम नहीं आय[5]

उपर्युक्त कजरी गीत में नायिका कहती है कि बादल गरज बरस रहे हैं पर पिया के बिना ये मुझे जरा भी नहीं भा रहे हैं। बादल गरजते हैं, बिजली भी खूब चमक रही है और चातक पक्षी भी शोर मचा रहे हैं। इधर कामिनि विरह की ज्वाला में व्यथित होकर पछाड़ खाकर गिर पड़ी है। कामासक्ति से पीड़ित शरीर झूमने लगा है और क्षण क्षण मन घबड़ा रहा है। हे सखि, मैं विरह की मारी, आस लगाये प्रतीक्षा करती रही पर श्याम नहीं आये।

एक कजरी में एक प्रिया कह रही है कि हे सखी! मैंने सोने की थाली में भोजन परोसा है किन्तु अभी तक प्रिय नहीं आये। सावन की वर्षा होने लगी है। मेढ़क बोल रहे हैं। पेड़ों की डालियों पर मोर तथा पपीहे भी बोल रहे हैं। वे अभी तक घर नहीं आये, सावन की वर्षा होने लगी है-

गीत-5

सोने की थारी में जेवना परोसलो,
सखी हो, सईयाँ घरे ना अइले,
सावन बरिसे लगले ना
दादुर बोले, मोर पपिहरा डारी-डारी ना
सखी हो, सईयाँ घरे ना अइले
सावन बरिसे लगले ना।[6]

वर्षा ऋतु में जिन गीतों में बारहों मास का वर्णन होता है। इन गीतों में प्रिय के वियोग के कारण बारह महीनों में प्रिया को जो कष्ट होता है उन्हीं का मार्मिक वर्णन इन गीतों में देखने को मिलता है। बारहमासा गीत अधिकतर आषढ़ से प्रारंभ होते है। कुछ बारहमासा गीतों में आदि से अन्त तक वियोग ही होता है तथा कुछ में अन्तिम महीना में नायक और विरहिणी का मिलन होता है। एक बारहमासा में नायिका के दर्द को इस प्रकार व्यक्त किया गया है :-

गीत-6

आसाढ़ मास झमकि देव बरिसे
सावन बरिसे भारी।
भादो के बिजुलि तड़ातड़ चमके
अब सेज पर रहिले डेराई, बिनु बनवारी के।
पूस में हनि पड़त तुसारा,
माघ बसंत जनाई
फागुन रंग खेलीं केकरा संग
केकरा संग धूम मचाओ, बिनु बनवारी के।
फागुन रंग खेलू देवरू संगे
डनके संगे धूम मचायो, बिनु बनवारी के
चइत में बन टेसू फूले
बइसाख में चुनरी रंगाई
जेठ में जब भेंट भइलें
पूजल मन केरा आस, बिनु बनवारी के।[7]

गीत-7

बारिय हमरी उमरिया बालम परदेा गईले हो
ललना, मदन हृदय तनु जारत, विरह जनावत हो
सासु ननद वचरीनियाँ बहुत दुःख देहत हो।
ललना देवरा बोलेला विरही बोलिया, करेजवा सालत हो
गोद मोरा सुन बालक बिनु, सेजिया बलम बिनु हो
ललना भवनहिं सून दीपक अन्धरि लागे हो
निति-दिन जियरा अंदेा, बालम हमार दरदो न बुझे हो

लिखि लिखि पतिया पठइतो अरज सुनइतो हो
ललना कवन सवति मन भावति हमें विरावेला हो
हरिहर मन यह आवत ह दय विचारित हो
ललना खाई जहर तनु त्यागूँ विरह मेटि जायत हो[8]

उपर्युक्त सोहर गीत में पति के परदेश चले जाने के बाद उसके अभाव में नारी के अन्दर किस प्रकार विरह-ज्वाला प्रज्ज्वलित होती है उसी का करूण वर्णन है। उसकी गोद सूनी है क्योंकि उसे सन्तान सुख नहीं मिला है और ईधर पति के बिना सेज भी सूनी है सास-ननद-देवर तीनों वैरी है जो कटु बोल तो सुनाते हैं पर विरह दूर करने के लिए कुछ भी नहीं करते। इधर कामदेव ने अपने तरकश और वाण को लेकर उसपर पूरी शक्ति से आक्रमण कर दिया है, उत्कंठा की पराकाष्ठा यह है कि पति के वियोग में वह जहर खाकर मृत्यु का आलिंगन करने की बात भी सोंचने लगती है।

गीत-8

चैत मास जोवना फुलायल हो रामा
कि पिया नाही आयल।
पिया नाहि आयल चैत मास आयल
रहि रहि जिया घबरायल हो रामा, कि पिया नाहिं आयल
बेली फुलायल, चम्पा फुलायल
सब बन फुलवा फुलायल हो रामा
अमवा फुलायल, महुआ फुलायल
मनिया के बगिया फुलायल हो रामा कि पिया नाहिं आयल
बिरही कोयलिया शब्द सुनावय
विरहिनि आँखिया ने निन्दिया हो रामा कि पिया नाहिं आयल
रहिते पियवा त गरवा लगइति[9]
आधी आधी रतिया हो रामा कि पिंया नाहिं आयल

उपर्युक्त चैती गीत में नायिका का भाव है कि चैत का महीना आते ही मेरी जवानी फूट पड़ी है लेकिन मेरे पिया नहीं आये। पिया तो नहीं आये पर चैत का यह वैरी महीना आ गया जिससे रह रहकर मन घबराता है। बेली और चम्पा के फूल खिल गए तथा सभी वन फूलों से भर गये। आम और महुआ में भी फूल लग गये तथा माली का बाग भी पुष्पित हो गया। विरही कोयल भी कू कू कर मन को ठेस पहुँचाती है, जिससे इन आँखों की नींद गायब हो गई है। अभी यदि मेरे पिया मेरे पास होते तो मुझे आधी रात तक गले से लगाये रहते। इस प्रकार मौसम के प्रभाव से नायिका के मन में उठनेवाली भोग लालसा को अभिव्यक्त किया गया है।

भोजपुरी श्रम गीतों में महिलाएँ जाँता पीसते समय जो गीत गाती है उन्हें 'जँतसार' कहा जाता है। इन गीतों में भी विरह के दर्द का वर्णन प्रायः देखने को मिलता है -

गीत-9

कवन देलें गुहुआँ सखी हे कवन देले हे चंगेरिया
आहे कवन रे वैरिनियाँ भेजे जँतसारी हे सखिया
सासु देलि गेहुँआ सखी हे, ननदो देलि हे चंगेरिया
आहे गोतनी वैरिनियाँ भेजे जँतसारी हे सखिया
पिया परदेश गइलें हमरा के दुख भइलें
दिन रात पढ़े मोरा गारी हे सखिया[10]

किसने गेहूँ दिया और किसने चंगेरी दी? और किस वैरिन ने जँतसार भेज दिया। मेरे पति परदेश क्या गये, मेरे ऊपर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ा। सास, ननद और गोतनी मुझे दिन रात गाली पढ़ती है।

गीत-10

कवने कसूरे सामी सुधि विसरवलऽ तूँ
छूटलऽ चरणऽ जिया ठोस हो रामा
ओकर सुरतिया रे टुटल पिरितिया रे
बिजुरी सवतिया चमके दिनवाँ और रतिया रे।

बोली बोले पपीहा विसेस हो राम
देवता मनाई नित दियाना चढ़ाई नितऽ
अँचरा पसारऽ बरऽ माँगीला बलमुआ के
रनऽ बनऽ मिले ना कलेस हो राम
बिरना पवनवाँ रे जग मन भवनवाँ रे
बदरा पढ़ा दे भइया पुरूब के देसवा रे
देई आवे पिया के सनेस हो राम[11]

उपर्युक्त गीत में एक वियोगिनी की पीड़ा है। वह कहती है मेरे किस अपराध ने तुमको मुझे छोड़ने के लिए बाध्य किया। तुम्हारी सूरत और प्रेम दोनों

अलग हो गए हैं और बिजली दिन-रात चमक कर मेरे दर्द को और बढ़ा रहा है। अब तो मैं दिया चढ़ाकर देवता को मना रही हूँ और आँचल पसारकर यही भीख माँग रही हूँ कि मेरे पति को कोई दुख दर्द न हो। इसके बाद वह पवन को संबोधित करते हुए कह रही है कि हे भाई! तुम बादल के द्वारा इस सन्देश को मेरे पति के पास जरूर पहुँचा देना।

गीत-11

गवना करवलन विदेसिया घरवा देले बइठाई
अपने त चलले विदेसिया पुरबी हो बनिजिया
घर में रोवे घरनी बलमुआ दुआरा धेनु हो गईया
छह रोवे चाक चकइया विछोहवा कइले हो बलभुआ
कत केसिया झाड़ी विदेसिया कत गुवना समझी राउर गुनवा
चनन ककहियां विदेसिया लागी गइले राम धुनवा
कत सेनुरा पहिरी विदेसिया कत समुझी राउर गुनवा
सोबरनऽ सिन्होरवा विदेसिया लागी गइल राम घुनव
कत सेजिया डारन विदेसिया कत समुझी राउर गुनवा
चनन पलंगिया विदेसिया लागी गइले राम घुनवा[12]

उपर्युक्त गीत में एक पति गवना के बाद व्यापार हेतु परदेस चला जाता है। उसकी पत्नी कहती है कि हे स्वामी गवना तो कराकर आप मुझे ले आये, लेकिन मुझे छोड़कर परदेस चले गये। तुम्हारे बिना तुम्हारी पत्नी रोती है और दरवाजे पर तुम्हारी गाय रोती है। इतना ही नहीं तुम्हारे व्यवहार से पानी के तालाब में चकवा-चकइया भी रोते हैं। अब तुम्हीं बताओ कि तुम्हारे वियोग में मैं सेज को कैसे सजाऊँ? तुम्हारे अभाव में चन्दन के पलंग में भी घुन लग रहा है।

लोकगीत लोक हृदय का सहज अभिव्यक्त गान है। दिन-रात, सुबह-शाम, महीनों-साल, बदलते मौसम को देखते हुए जो मन में भाव उत्पन्न होते हैं उन भावों को अपने सुख-दुख से जोड़कर व्यक्त करने कि कला में आम जन खड़े उतरते हैं। हृदयगत भावों में जब अनुकूल शब्द और अनुकूल स्वर मिल जाते हैं तो यह लयात्मक अभिव्यक्ति आकार ले कर लोकगीतों को जन्म देती है। इसमें मानव के छन-छन के भाव मुखरित होते हैं। कहीं खुशी है तो कहीं दुख है, कहीं हास-परिहास है तो कही रोदन है, कहीं ईठलना मचलना है तो कहीं हठ है। इन सब भावों को सहज रूप में देखना हो तो हमें लोकगीतों के तरफ जाना ही होगा।

शृंगार रस सभी रसों का सिरमौर माना गया है। इसमें संयोग और वियोग दोनों भाव मुखरित होते हैं। मिलन जहाँ है वहाँ वियोग होना भी अवश्यम्भावी है। लोक समाज तो श्रम पर जीने वाले महामानव होते हैं। अपने रोजी रोटी के लिए घर से दूर जाना पड़ता है अर्थात् अपने सगे सम्बन्धियों का वियोग झेलना पड़ता है। लोकगीतों में वियोग शृंगार का भाव हृदय के आंसुओं से सिंचित होकर निकलते हैं।

नारी मन जाँता पिंसते हुए रोपनी, कटनी करते हुए, झुला झुलते हुए, खाना पकाते हुए अपने हृदयगत भावों को परदेशी पिया के वियोग में तरल सरल स्वरों में हृदयगत भावों को व्यक्त करती रहती है। इन गीतों का भाव इतना मार्मिक होता है कि पत्थर दिल इंसान भी पिघल जाता है और वह उसके दुःख में अपने आप को संलग्न पाता है। स्वरों का लगाव ऐसा होता है जैसे हृदय की तड़पती-मचलती भावनाएँ कातर स्वर में पुकार रही है।

संदर्भ सूची :-

1. कौशिक डॉ. जगदीश प्रसाद, रस विवेचन पृ. 37
2. भिखारी ठाकुर के प्रसिद्ध गीत
3. वही
4. प्रचलित भोजपुरी लोकगीत
5. लोकगायिका लक्ष्मी देवी से प्राप्त
6. लोकगायिका लक्ष्मी देवी से प्राप्त
7. भोजपुरी क्षेत्र का पारम्परिक बारहमासा गीत
8. लोकगायिका सुमित्र देवी से प्राप्त
9. भोजपुरी क्षेत्र का प्रचलित चैती गीत
10. बहरदार डॉ. छोटेलाल, लोकगीतों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ. 192
11. तिवारी रामनारायण, भोजपुरी श्रम लोकगीतों में जँतसार पृ. 101
12. वही पृ. 102

संगीत और हमारा जीवन

डॉ. चंदेश्वर प्रसाद कुशवाहा

समग्र ललित कलाओं में संगीत को सर्वोत्कृष्ट परिष्कृत कला के रूप में माना जाता है। यह न केवल मानव प्राणी के भाव को उत्प्रेरित करने की सामर्थ्य से ओत-प्रोत है, बल्कि यह सामान्यतः जीवन में असीम आत्मसंतोष के भाव की प्राप्ति में सहायता देता है। संगीत व्यक्ति में एक साथ निरानंद एवं करुणा के भाव की उत्पत्ति को प्रोत्साहित करने की क्षमता से युक्त है। यह लोगों में वीरता के भाव को पैदा करता है तथा उन्हें आनन्दातिरेक-भाव समाधि की अवस्था की प्राप्ति में सहायता देता है। प्रख्यात गायिका रसूलनबाई ने ठीक ही कहा है कि जैसे आत्मा के बिना शरीर का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार संगीत के बिना समग्र मानव जीवन व्यर्थ है। संगीत समस्त जीव प्राणियों के लिए सुखदायी है। संगीत दरअसल आनंद का आविर्भाव है। आनंद ईश्वर रूप है। स्वर एवं लय से समन्वित होने के कारण आनंदमय जगत् इसका क्रीड़ा स्थल है। आत्मविभोर तथा तल्लीनता की महती शक्ति संगीत में अंतर्निहित है। उपासना मन को केंद्रीभूत करती है। अतः संगीत को उपासना के एक सशक्त माध्यम के रूप में माना जा सकता है। समस्त देव, सिद्ध, योगी, गंधर्व, किन्नर, मनुष्य एवं चर-अचर संगीत के सम्मोहन में आबद्ध हैं।

भारतीय ऋषियों ने संगीत को हृदयगत भावों के उद्घाटन का सफल साधन मानते हुए इसे धर्म, अर्थ काम और मोक्ष प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन माना है। शारङ्गदेव ने संगीत की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा हैः

''गीतेन प्रियते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।
गोपीपतिरमन्तोऽपि वंशध्वनि वंश गतः।।
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्ष गंधर्वदेवदानवमानवाः।।
अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्यङ्किकागतः।
रुदंन्गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्ष प्रपद्यते।।
वने चरस्तृणाहारशिचत्रं मृगशिशुः पशुः।
लुब्धोलुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम्।।
तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मर्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम्।।

-संगीत रत्नाकर प्रथम स्वराध्याय

मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मालाभ है- 'आत्मालाभात्र परं विद्यते।' मानव जीवन की सार्थकता इसी आत्मोपलब्धि में समझी जाती है। उपनिषदों में आत्मा का निर्माण पंचकोषों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय से बताया गया है। प्रथम दो कोष तो सभी प्राणियों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं। शेष तीन मात्र मानव जाति में पाए जाते हैं। इन पाँचों में आनंदमय कोष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह एक ऐसा कोष है जो परमतत्त्व के साक्षात्कर में सहायक होता है।

रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति।
को ह्योवान्तात कः प्राण्यात्।
यदैष आकाश आनन्दो न स्यात्।
एष ह्योवानन्दयति।''

-तैत्तिरीय ब्राह्मण

1. संगीत आत्मानंद की प्राप्ति का माध्यम है। संगीत के प्रकार्यात्मक महत्त्व हैं

पूर्व शोध छात्रा, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि., दरभंगा

(1) संगीत व्यक्ति की संयोगात्मक अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ साधन है। अतः यह भावात्मक स्तर पर व्यक्ति को चिरानन्द की प्राप्ति में सहायता देता है;

(2) सामाजिक तनाव की स्थिति में संगीत रचनात्मक एवं अभिव्यक्तात्मक अवसर प्रदान करता है;

(3) संगीत सौन्दर्यात्मक रसास्वादन का एक उत्तम रूप प्रस्तुत करता है;

(4) संगीत के द्वारा समाज के आदर्शों एवं नियमों का प्रसारण तथा पुष्टिकरण होता है;

(5) सांस्कृतिक निरन्तरता को कायम रखने में संगीत प्रभावकारी भूमिका निभाता है; साथ ही समाज के सदस्यों एवं विभिन्न समूहों के बीच परस्पर सामंजस्य विकसित करने में भी संगीत की अहम् भूमिका होती है।

आज संगीत को पूजा व भक्ति की धुरी के रूप में माना जाता है। चाहे हम स्तोत्र पाठ करें अथवा मंत्रोच्चार वा नृत्य अथवा उपासनाएँ, संगीत उनमें एक आधा रस्तम्भ की भूमिका का निर्वहन करता है।

''पूजा कोटि गुणम स्तोत्रम्, गानत पर नर नहि।''

संगीत मनोरंजन का एक ऐसा सर्वोपरि माध्यम है, जहाँ मानव अपने अस्तित्व के भाव से परे परमानन्द में लीन हो जाता है (Ratanjankar, 1957; Wad, 1971; Weber, 1958)। यह मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग को सरल एवं सुलभ बना देता है। वस्तुतः यह आत्मा का परमात्मा से मिलन के मार्ग को प्रशस्त करता है। भगवान महावीर ने संगीत को इस लोक की भाषा तथा परलोक की सीढ़ी के रूप में स्वीकार करते हुए संसार के समस्त जीवों के कल्याणार्थ संगीतमय उपदेश दिया और संभवतः राग मालकौस की उत्पत्ति का यही आधार रहा। इसप्रकार, संगीत हृदय की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। संगीत भगवद् भक्ति एवं आराधना के विभिन्न नौ प्रकार, जैसे- श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन, स्मरण, चरण सेवन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन के हर पहलू में विद्यमान है। संक्षिप्ततः संगीत हृदय के निर्मल भावों को जागृत करता है। यह मोक्ष की राह को प्रशस्त करता है तथा आत्मा का परमात्मा के साथ मिलन में सहायक होता है। न्यूरोलॉजिस्ट्स के अनुसार, इसके द्वारा शारीरिक संरचना में भी परिवर्त्तन सम्भव है। राबर्ट जटारे की दृष्टि में नवजात शिशुओं पर संगीत का विशेष प्रभाव देखा जा सकता है। प्रायः माताएँ अपने बच्चों को सुलाने हेतु लोरी का सहारा लेती है। यद्यपि भाषा व संगीत दोनों को ही भाव-संचार के माध्यम के रूप में माना जाता है, किन्तु संगीत ध्वनि स्पन्दनों को विशिष्ट लय-ताल से समन्वित कर प्रसारित करता है। इसकी मधुर झंकार से हर हृदय झंकृत हो जाता है। परन्तु, भाषा शब्दों की संरचना है, जो अन्य भाषा-भाषी लोगों के लिए सर्वथा प्रभावहीन है। संगीत के स्वर सांस्कृतिक सृजन के प्रतीक भी हैं और तनाव से मुक्ति का साधन भी। संस्कृति के बगैर संगीत की सम्भावना न्यून होती है। भारतीय संगीत को निश्चय ही यहाँ की संस्कृति के प्रतिफल के रूप में माना जा सकता है।

नृत्य की तरह ही संगीत प्राणी को उसके स्वशसित तंत्रिका तंत्र के द्वारा संभवतः जातीय अचेतन की अवस्था तक प्रभावित करता है। ऐसा प्रभाव सामान्यतः कल्पनाओं से परे है। संगीत का प्रयोग व्यक्ति के अव्यक्त संघर्षों को झकझोरने के लिए तथा उन्हें दूर करने के लिए किया जाता है।

पूरी तरह लयात्मक होने के कारण संगीत ईद (id) तथा अचेतन से सम्बन्धित होने के साथ-साथ अहं (ego) में अंतर्विष्ट संवेगात्मक तत्वों एवं ऐन्द्रिक अनुभूतियों से भी संबंधित रहता है। ईद (id) से सम्बन्धित होने के कारण संगीत का मनोचिकित्सात्मक महत्त्व विशेष रूप से बढ़ जाता है (Gustin,1956; Jung, 1928; Kohut, 1957; Paramesh, 1968)। आज संगीत-मनोचिकित्सा का क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है। संवेगात्मक तथा व्यवहारात्मक समस्याओं से ग्रसित व्यक्ति के उपचार के अतिरिक्त इसका उपयोग अपंगों स्नायु विकृतियों एवं मनोविकृतियों (जैसे मनोविदलता, व्यामोह) से ग्रसित व्यक्तियों के उपचार में भी इसे प्रभावकारी पाया गया है। कई शोधकर्त्ताओं ने मानव-जीवन में इसकी मनोचिकित्सात्मक उपयोगिता को स्थापित किया है (जैसे; Bhattacharya, 1956; Bychowski, 1957; Cross, 1967; Eiduson, 1958)। निश्चय ही,

संगीत का एक मनोचिकित्सात्मक महत्त्व है। (Raychaudhary, 1962, 1963, 1963a, 1966a; Singh, 1966)।

Drebdabl and Cattell (1958) ने व्यवहारात्मक समस्याओं से ग्रसित व्यक्तियों पर संगीत के प्रभाव का अध्ययन कर बताया है कि यह ऐसी समस्याओं के निदान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसी तरह, Eiduson (1958) का दावा है कि मानव के व्यवहारात्मक-विकृतियों को दूर करने में संगीत अहम् भूमिका निभाता है। इनके अनुसार, यह तनाव को कम कर जीवन में शांति पैदा करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। समासतः यह मानव मन पर सम्मोहक प्रभाव डालता है तथा उसे प्रशांति की अवस्था की प्राप्ति में सहायता देता है। वस्तुतः संगीत कर्मचारियों में आनंददायक भाव उत्पन्न कर न केवल उनकी कार्यक्षमता को भी बढ़ा देता है। बल्कि यह अंततोगत्वा औद्योगिक उत्पादकता को भी बढ़ा देती है। Friedman (1980) ने संगीत की सामाजिक भूमिका पर बल डाला है। Henry (1980) ने संगीत की सामाजिक मूल्यों के विकास को सार्थक रूप में प्रभावित करता है।

जीवन में संगीत के महत्त्व का वर्णन करते हुए Coomarswamy (1948) का मानना है कि संगीत मोक्ष (निर्वाण)-प्राप्ति तथा ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करने का सबसे सुगम माध्यम है। Swami Prajananda (1979) का भी ऐसा ही विचार है। इनके अनुसार, संगीत का वास्तविक उद्देश्य ईश्वरीय चेतना के विकास में सहायता देना है। हमारे ऋषियों के द्वारा रचित संस्कृत के श्लोकों में संगीत के महत्त्व की विवेचना करते हुए कहा गया है कि संगीत से बढ़कर कोई कला नहीं है (ना विद्या संगीतपरा)। ऐसा इसलिए क्योंकि संगीत ही एक ऐसा माध्यम है जिसके सहारे मानव ईश्वर से तत्काल संपर्क ही एक ऐसा माध्यम है जिसके सहारे मानव ईश्वर से तत्काल संपर्क स्थापित कर सकता है। यह उसे आंतरिक सुख-शांति तथा प्रशांति की प्राप्ति में सहायता देता है।

स्पष्टतः मानव जीवन का कोई भी क्षेत्र संगीत के प्रभाव से अछूता नहीं है। मानव-जीवन में संगीत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, यह मानव-मन पर सुखद प्रभाव डालता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव-जीवन में किसी-न-किसी रूप में संगीत की उपयोगिता देखी जा सकती है। इस प्रकार, संगीत को मानव-जीवन तथा उसकी संस्कृति के एक अभिन्न अंग के रूप में माना जा सकता है। यह एक स्वस्थ मनोरंजन है, जो हमेशा आनंददायी होता है। यह कभी भी थकान उत्पन्न करने में योगदान नहीं देता।

संगीत व्यक्ति की तंत्रिकाओं को बड़े ही नम्र रूप से उत्तेजित करता है तथा उसके खून की रफ्तार को नियंत्रित रखता है। यह एकाग्रता की शक्ति को बढ़ा देता है ताकि संपूर्ण शरीर में पूरी तरह सुखद भाव पैदा करता है। संगीत के प्रभाव से व्यक्ति अतिसंवेदनशील हो जाता है। यह उसकी मनोदशा को गढ़ने में मदद देता है, उसे एक लीक प्रदान करता है तथा विभिन्न विचारों को जन्म देने हेतु उसमें अतिरिक्त ऊर्जा शक्ति को संचारित करता है। संगीत हल्की बातों को गंभीर बना देता है तथा कल्पनात्मक वस्तुओं को वास्तविकता के भाव से बचाने के लिए उत्प्रेरित करता है। यह नशा की तरह मन को मोह लेता है, फलतः हर चीज इस रूप में प्रकट होती है कि मानो व्यक्ति किसी तरंग में झूम रहा हो। यह संवेगात्मक भाव को उत्प्रेरित करता है तथा उसे अनंत काल तक बनाये रखता है। संगीत अपूर्व रूप में व्यक्ति के मन को उत्तेजित करता है, किन्तु ऐसे उत्तेजन अवरोधक के रूप में नहीं होते। यह मस्तिष्क पर कोई दबाव एवं तनाव नहीं डालता। यह संपूर्ण तंत्रिका तंत्र को एक रूप से झंकृत कर देता है, किन्तु यह झंकार कभी भी व्यक्ति की सामान्य अवस्था को आघात नहीं पहुँचाता। यह शक्ति को बनाए रखता है। इसका प्रभाव तंत्रिका तंत्र में उत्पन्न होता है। संक्षिप्ततः संगीत हर दृष्टि से लाभकारी परिणाम प्रकट करता है। यह जीवन को सदा सरस एवं माधुर्यमय बनाने में अलौकिक योगदान देता है।

संगीत में ध्वन्यांकन प्रौद्योगिकी का योगदान

दिनान्त भूषण

मनुष्य अपनी हृदयगत भावनात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए संगीत को माध्यम बनाया। अतः कहा जा सकता है कि मानवीय सभ्यता के विकास के साथ ही सांगीतिक स्वर, ताल एवं शैलियों का भी विकास शुरू हो चुका था। जब-जब मनुष्य खुद को क्लान्त, बेचैन एवं तनाव युक्त पाया। संगीताश्रय होने पर उसने सुख एवं शांति ही महसूस किया है। मनुष्य का पृथ्वी पर प्रादुर्भाव से लेकर वर्तमान समय तक सांगीतिक स्वरूप एवं शैलियों में भी बदलाव होता रहा है।

इन्हीं बदलते सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के बीच संगीत एवं कला के क्षेत्र में भी युगान्तकारी परिवर्तन होने के साथ ही कई नवीन संभावनाएं भी सामने आई हैं। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपकरणों, प्रौद्योगिकी एवं तकनीक के माध्यम से आज हम अपनी इस पारम्परिक सांगीतिक धरोहरों को संरक्षित रख पाने में समर्थ हो सके हैं। सचमुच इसका सारा श्रेय ध्वन्यांकन प्रौद्योगिकी के विकास को जाता है।

यूँ तो ध्वन्यांकन की व्यवहारिक शुरुआत 1817 ई. में महान वैज्ञानिक थॉमस अल्वा एडिसन के द्वारा फोनोग्राफ के आविष्कार से ही शुरू हो चुका था। किंतु बीसवीं सदी तक आते-आते यह प्रौद्योगिकी भी सामाजिक प्राथमिकताओं एवं रुचियों के आधार पर अनेक परिवर्तन एवं पड़ावों को पार करते हुए आधुनिकतम डिजिटल दौर में प्रवेश कर चुका है।

वैज्ञानिक उपकरणों, तकनीक एवं प्रौद्योगिकी के चहुँमुखी एवं बहुमुखी विकास में संगीत की न केवल अनेक परंपरागत मान्यताएँ बदली हैं प्रत्युत प्रयोगात्मक संगीत (एप्लाइड म्यूजिक) की भी अनेक दिशाएँ सामने आई हैं।

रिकॉर्डिंग के क्षेत्र में एकॉस्टिक, इलेक्ट्रिकल, मैग्नेटिक से होते हुए डिजिटल सीक्वेंस/मल्टी ट्रैक रिकॉर्डिंग का विकास संभव हुआ है दूसरे शब्दों में फोनोग्राफ (रिकॉर्ड प्लेयर) रेडियो, टेप रिकॉर्डर से होते हुए म्यूजिकल सॉफ्टवेयर एवं एप्स के तहत डिजिटल रिकॉर्डिंग का चलन काफी व्यापक रूप से होने लगा है। टेक्नोलॉजी की चहुँमुखी विकास ने भारतीय संगीत को भी बहुत प्रभावित किया है ग्रामोफोन एवं रेडियो के विकास से पूर्व यहां घराना गायकी का बोलबाला था। प्रायः गायकी एवं संगीत का संबंध राजा महाराजाओं की हवेलियों, मठ मंदिरों एवं सामंत वर्गों के बीच ही ज्यादा था। गुरू शिष्य परंपरा के द्वारा संगीत साधकों को विशिष्ट घराना की गायकी से ही पूर्णतः संबद्ध रहना होता था अन्य घरानों अथवा गुरुओं/लोगों की गायकी को सुनने की न तो सुविधा थी और ना ही छूट होती थी। लाभ यह था कि शिष्य की गायकी एवं स्मृति शुद्ध एवं उन्नत होती किंतु नुकसान या था कि शिष्य इससे अन्य घरानों की गायकी की अच्छी चीजों को ना सीख पाता और ना ही अपनी अथवा अपने गुरु के ही गायकी को दोबारा उसी रूप में पुनः सुन पाता।

ध्वनि अंकन प्रौद्योगिकी के विकास में इन तमाम असुविधाओं को दूर कर दिया है। यह समाज में व्यापक प्रभाव डालकर संगीत को जन-जन में जीवन का आवश्यक अंग बना दिया है। आजकल नए एवं पुराने कलाकारों की कला को सुनना सुगम हो गया है जनसामान्य भी अपने इच्छित कलाकारों

शोध छात्र, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. दरभंगा।

को हर समय और कहीं आसानी से सुन सकता है।

वैज्ञानिक उपकरणों माइक्रोफोन, कंप्यूटर एवं प्रौद्योगिकी पद्धति ने मानवी उत्थान के हर पहलू पर प्रभाव डाला है। शिक्षा जगत में, सिने उद्योग में, इलेक्ट्रॉनिक उद्योगों के विकास में, वाद्य यंत्रों के विकास में, संचार उद्योग में, पर्यटन उद्योग में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष योगदान रहा है।

प्राचीन समय में भी संगीत का प्रचार-प्रसार महफिल, जलसा, कॉन्फ्रेंस आदि माध्यमों द्वारा किया जाता था। परंतु इस प्रौद्योगिकी के विकास की सहायता से इन कलाकारों की कला को आने वाली पीढ़ियों के लिए ध्वनि मुद्रण कर उसी स्वरूप में संजोकर रखना संभव हुआ है आज के समय के कलाकार वा कि सामान्य जन भी अपने चहेते कलाकारों की गायकी/ महफिल का आनंद बारंबार ले सकते हैं।

ध्वनि अंकन प्रौद्योगिकी विकास के पूर्व संगीत कला का शिक्षण एकमात्र गुरु शिष्य परंपरा के द्वारा ही संभव था। किंतु वर्तमान समय में तकनीक विकास के कारण विभिन्न घरानों/कलाकारों की गायकी को ऑनलाइन इंटरनेट के माध्यम से सीख और समझ रहे हैं।

ध्वन्यांकन प्रौद्योगिकी एवं तकनीक के विकास ने भारतीय सिने उद्योग को भी कुछ ज्यादा ही प्रभावित किया है। कहा भी जाता है कि फिल्म यदि आईना है तो संगीत उसका प्रतिबिंब। 14 मार्च 1931 ई. को पहली सवाक् फिल्म आलम आरा मुंबई के मैजेस्टिक सिनेमा घर में प्रदर्शित हुई। निर्देशक थे आर्देशिर ईरानी। यह रोमांचकारी घटना थी लोगों के लिए; साथ ही सिने जगत के लिए महत्वपूर्ण उपलब्धि।

आजकल डिजिटल रिकॉर्डिंग एवं डाटा सम्पीड़न द्वारा संगीत ऑनलाइन वितरित किया जा सकता है। डिजिटल प्रौद्योगिकी कुछ कमियों के बावजूद इस प्रकार उल्लेखनीय है कि प्रौद्योगिकी का विकास समाज के लिए सबसे तेज और सुविधाजनक तरीके से संगीत का नया उत्पाद प्राप्त करने में योगदान देता है और उत्पादन, उद्योग एवं वितरण की लागत को कम करता है।

इस प्रौद्योगिकी का उपयोग कर कलाकार अपनी सांगीतिक क्षमता को विकसित करने के लिए रिकॉर्डिंग स्टूडियो घर पर ही स्थापित कर रहे हैं। परिणामतः कलाकार निर्माण और वितरण के लिए बड़े-बड़े संगीत उत्पादकों पर निर्भर नहीं रहते; कलाकार जहां चाहे रिकॉर्डिंग कर सकते हैं, ऑनलाइन प्रशंसकों से जुड़ सकते हैं और बिना किसी लागत की अपनी नई रिलीज का विज्ञापन भी कर सकते हैं। इस तरह संगीत का लोकतांत्रिकरण भी इस प्रौद्योगिकी के बदौलत संभव हो सका है।

संगीत के प्रचार प्रसार में इसके अधिकाधिक योगदान के साथ ही कुछेक नकारात्मक पहलू भी हैं यथा गुरु शिष्य परंपरा का क्षीण होना, कलाकार के रियाज एवं स्वर साधना में कमी होना (कारण ध्वनि मुद्रण कला में ऑटोट्यून एवं अन्य दूसरे दोषनिर्मूलन उपाय आ जाने से), पाश्चात्य संगीत का प्रभाव बढ़ना, स्वर ज्ञान की क्षमता में कमी होना (तानपूरे को छोड़ हारमोनियम एवं अन्य वाद्य यंत्रों की सहायता से गायन करना आदि।

निष्कर्ष रूप में आधुनिक संगीत के विकास एवं जन जन तक प्रचार प्रसार में डिजिटल ध्वन्यांकन प्रौद्योगिकी के तहत म्यूजिक कंपोजिशन सॉफ्टवेयर कंप्यूटर एवं इंटरनेट सराहनीय योगदान है। इस प्रौद्योगिकी ने संगीत का लोकतांत्रिकरण कर निर्माण, वितरण एवं लागत को सुगम तथा सुलभ बना कर संगीत प्रेमियों एवं कलाकारों के मनोबल एवं उत्साह में अभूतपूर्व बल प्रदान किया है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपशास्त्रीय संगीत का उद्‌भव

मणिकान्त कुमार

उपशास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति शास्त्रीय शब्द में 'उप' उपसर्ग का प्रयोग होने से हुआ है। हिन्दी व्याकरण के अनुसार 'उप' शब्द का शाब्दिक अर्थ निकट, समीप, पास नजदीक आदि होता है। इस दृष्टि से हमें यह प्रतीत होता है कि उपशास्त्रीय संगीत शास्त्रीय संगीत के समीप है अर्थात् ''गायन-शैली का वह प्रकार जो शास्त्रीय संगीत के नजदीक, समीप, या पास हो तो उसे उपशास्त्रीय संगीत कहा जाता है''। इस शैली के गायन में रागों के कोई निश्चित् नियम का पालन नहीं नहीं किया जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ''शास्त्रीय एवं लोक संगीत के मिश्रित रूप को उपशास्त्रीय संगीत कहते हैं''। जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत में गाने का तरीका, राग के स्वरों के लगाने के नियम, गायन-समय, वादी-संवादी, आदि ऐसे अनेक नियम हैं जिसके अन्तर्गत गायक को बंधित रहना पड़ता है। राग में प्रयोग होने वाले स्वरों के अतिरिक्त अगर कोई अन्य स्वर का प्रयोग हो जाय तो ऐसा माना जाता है कि राग के नियमें का उलंघन किया गया हे। उससे राग की सुन्दरता नष्ट मानी जाती है लेकिन उपशास्त्रीय संगीत में ऐसी कोई बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। उसके गाने के समय राग में प्रयोग होने वाले स्वरों के अतिरिक्त स्वरों के प्रयोग से अगर श्रोताओं को आनंदानुभूति होती है तो हम उस स्वर का प्रयोग कर सकते हैं, इसमें कोई बंधन नहीं है।

उपशास्त्रीय संगीत का उद्‌भव कब और कैसे हुआ? इस प्रश्न पर अभी तक कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। संगीत के अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं जिन मत या सिद्धातों को अध्ययन करने से हमें यह प्राप्त होता है कि इस गायन-शैली का उद्‌भव प्राचीन काल में ही सृष्टि के उद्‌भव के साथ ही हुआ। जिस समय संगीत की उत्पत्ति हुई थीं उस समय शास्त्रीय अथवा उपशास्त्रीय ऐसा कोई संगीत के प्रकार नहीं थे। उसे सिर्फ एक ही नाम से संबोधित किया जाता था-संगीत। ज्यों-ज्यों मानव का विकास होता गया उसके साथ ही संगीत का भी विकास यात्रा शुरू हुआ जिसके अन्तर्गत संगीत के दो शाखाओं का निर्माण हुआ। इन शाखाओं को वैदिक काल में 'सामगान' एवं 'गाथागान' के नाम से जाना जाता था। सामगान का नियम आधुनिक शास्त्रीय गायन शैली से बहुत मिलता-जुलता था[1]। इस गायन का प्रयोग वैदिक काल में यज्ञों के अवसर पर ऋत्विकों के द्वारा किया जाता था जिसमें मुख्य रूप से चार प्रकार के गायक होते थे। इन गायकों को उद्‌गाता, प्रतिहर्ता, प्रस्तोता और होता कहा जाता था। इसका गायन तीन स्वर उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित के द्वारा किया जाता था। 'गाथागान' के अन्तर्गत तत्कालीन वीर-पुरूषों के जीवन-चरित्र का गायन किया जाता था। इस शैली का प्रचार निम्नवर्ग के लोगों के बीच मनोरंजन के उद्देश्य से ज्यादा प्रचलित था। वैदिक काल में ही सामान्य लोगों के बीच एक और गायन शैली का प्रचार-प्रसार था जिसे 'नाराशंसी' संगीत कहा जाता था। इस गायन में सामगान की तरह कोई निश्चित नियमों का प्रयोग नहीं किया जाता था। संगीतज्ञों का मानना है कि इसी शैली से आधुनिक कालीन उपशास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति मानी गई हैं।

शोध छात्र, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि., दरभंगा

डॉ. सुधा सहगल के अनुसार भारतीय संगीत सृष्टि के प्रारंभ से ही दो धाराओं में प्रवाहित होता रहा है। प्रथम वह धारा जिसका विकास प्राचीनकाल में धार्मिक अवसरों पर विधि-विधान के लिए किया गया और दूसरा वह जिसका प्रयोग लौकिक अवसरों पर किया जाता था। संगीत के दूसरे धारा का लक्ष्य केवल लोगों का मनोरंजन करना था। पहली धारा के अन्तर्गत वैदिक संगीत एवं दूसरी धारा के अन्तर्गत लौकिक संगीत का समावेश माना जाता है। वैदिक काल से ही ये धाराएँ समान रूप से कर्मों-वेश चलती रही। भरत काल में प्रवेश करते-करते इनके नाम में भी परिवर्तन हुआ। इस काल में वैदिक संगीत को 'मार्गी' एवं लौकिक संगीत को 'देशी संगीत' के नाम से उच्चारण किया जाने लगा[2]। देशी संगीत का सर्वप्रथम उल्लेख मतंग कृत 'वृहद्देशी' ग्रंथ में किया गया है[3]। लगभग इसी समय मार्गी-संगीत के लिए 'गान्धर्व' एवं देशी संगीत के लिए 'गान' शब्दों का भी प्रयोग दिखाई देता है। देशी संगीत के नाम स्वरूप में परिवर्तण होते-होते मुगल काल में 'उपशास्त्रीय' संगीत के नाम से संबोधित किया जाने लगा।

कुछ संगीत विद्वानों का यह भी मानना है कि उपशास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति लोक संगीत से हुई है, क्योंकि इस शैली के विधा-ठुमरी, टप्पा, कजरी, चैती, होरी आदि के बारे में यदि अध्ययन किया जाए तो ये सभी भारतीय लोकगीत के प्रकार हैं। इसके सभी पद लोक के समान हैं। लोकगीत की यह शैली शास्त्रीय गायकों के गले में आने के बाद इसमें नये-नये स्वर-समूहों में पिरोकर गाना शुरू किया जिससे उसके सौन्दर्य में वृद्धि हुई। शास्त्रीय गायकों के द्वारा गायन किये जाने से इस शैली को उसी के समीप एक नया नामकरण किया गया जिसे 'उपशास्त्रीय' संगीत कहा गया।

कुछ संगीतज्ञों का यह भी मानना है कि शास्त्रीय संगीत गायन विधाएँ ख्याल, ध्रुपद, तराना आदि शैलियों में ही थोड़ा परिवर्तन करके उपशास्त्रीय संगीत का निर्माण किया गया।

मुगलकाल में इस गायन शैली का खूब प्रचार-प्रसार हुआ जिसका मुख्य कारण यह था कि मुस्लिम शासक रसिक प्रिय संगीत श्रोता थे। वे गम्भीर प्रकृति के गायन-शैली की अपेक्षा चंचल प्रकृति के गायन-शैली को अधिक पसंद किया करते थे। इसलिए उन्होंने भावों के अनुकूल गायन-शैली एवं गायकों को अपने दरबार में आश्रय प्रदान किया। राज-दरबार में आश्रय मिलने के प्रलोभन से इस शैली के नये-नये कलाकारों का उदय हुआ[4]। मुस्लिम शासक मुंहम्मद गोरी, अलाउद्दीन खिलजी, बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब, बहादुर शाह 'रंगीले' नवाब वाजिद अली शाह, आदि अनेक संगीत प्रिय शासक थे जिन्होंने अपने दरबार में संगीत की प्रधानता प्रदान की और संगीतज्ञों को आश्रय प्रदान किया जिससे उपशास्त्रीय संगीत का विकास हुआ।

संगीत का यह प्रकार मुख्य रूप से भावना प्रधान होता है जिसमें भावों की प्रस्तुतिकरण के लिए अधिक ध्यान दिया जाता है। यह शैली स्वर एवं शब्द के माध्यम से लालित्य सम्पन्न होने वाले एक भावपूर्ण, रोमांटिक, रसमय, गीत का प्रकार है। इस गायन-शैली में स्वरों की अपेक्षा शब्दों की अधिक प्रधानता होती है। बंदिश के शब्दों में निहित अर्थ या भाव को स्पष्ट करना ही उपशास्त्रीय गायन शैली का प्रमुख लक्ष्य है[5]। इस शैली में शब्द-शब्द में रस होता है और इन्हीं रसों के द्वारा सम्पूर्ण संगीत सींचा जाता है। इस शैली में नये-नये स्वर-समूहों की जगह नये-नये शब्दों का प्रयोग ज्यादा किया जाता है जो श्रोताओं के अन्दर एक नवीन जिज्ञासा उत्पन्न करता है। इसमें सरल एवं ग्रामीण शब्दों का प्रयोग ज्यादा किया जाता है जिससे इस शैली का गायन साधारण लोगों की समझ में आसानी से आ जाती है और उसका भरपूर आनन्द उठाते हैं।

आधुनिक काल में उपशास्त्रीय गायन शैली एक प्रमुख विधा के रूप में उभरकर सामने आ रही है जिनके श्रोताओं की संख्या दिनों-दिन लगातर बढ़ती ही जा रही हैं। श्रोताओं के अनुकुल आज गायकों का भी झुकाव इस शैली की ओर ज्यादा हो रहा है। आज संगीत के जितने भी शास्त्रीय संगीतज्ञ हैं लगभग सभी लोग अपने शास्त्रीय गायन की समाप्ति के बाद कम से कम एक उपशास्त्रीय संगीत की विधा ठुमरी, टप्पा, कजरी, चैती, होरी आदि की प्रस्तुति अवश्य ही करते हैं और श्रोताओं का उनसे

यह उम्मीद भी रहता है। आधुनिक काल में इस शैली के अन्तर्गत ठुमरी, दादरा, सादरा, कजरी, चैती, होरी आदि विधाओं का समावेश माना जाता है जिसमें ठुमरी एक सर्वप्रचलित विधा है जिसका गायन अधिकतर संगीतज्ञ किया करते है।

संदर्भ ग्रंथ

1. शर्मा भगवत शरण, भरतीय संगीत का इतिहास, पृष्ठ 45
2. सहगल डॉ. सुधा, बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत, पृष्ठ 2
3. बृहस्पति आचार्य, संगीत चिंतामणि, पृष्ठ 124
4. पाण्डे, डॉ. आशा, मध्यकालीन संगीत शैलियों का उद्‌गम् एवं विकास, पृष्ठ 27
5. पाण्डे एस. एस., उपशास्त्रीय संगीत क्या है? संगीत पत्रिका, जनवरी 2003, पृष्ठ 10

आदिवासी के गीत

डॉ. पूनम कुमारी

आदि का अर्थ हुआ शुरू और वासी का अर्थ रहने वाला अर्थात् हमारी संस्कृति के शुरू करने वाले आदि वासी उस समय से अबतक अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखे हैं। उनका रहने का ढंग, खाने का ढंग, शिकार-खेलने का ढंग और उनका हथियार, तीर, धनुष अभी भी प्राचीन अवस्था का घोतक है। जंगल, पहाड़ों, जानवरों के बीच रहना नदी के पानी को पीना, इनकी पुरानी परम्परा को जीवित रखे हुए है। वे आज के शहरी माहौल से अपने आपको काफी अलग रखे हुए हें। चिकित्सा से जुड़ी सभी दवाएँ इन्हें वन उपवन से ही प्राप्त होते हैं।

ऐसे तो आदिवासी दक्षिण बिहार में ही बसते हैं जिसमें अधिकतर झारखण्ड में चला गया है। संथाल परगना, छोटानागपुर, राउरकेला, राँची इत्यादि आदिवासियों का गढ़ माना गया है। परन्तु ये सभी झारखण्ड में बँट गये हैं। फिर भी कुछ आदिवासी बिहार के भागलपुर, साहेबगंज, जमुई, झाझा, चकई इलाके में पाये जाते हैं, जो कि बिहार क्षेत्र में है। उराँवमुंडा एवं संथाली जाति के आदिवासी बिहार क्षेत्र में पाये जाते हैं।

आदिवासियों का मनोरंजन लोक नृत्य एवं गीत के माध्यम से होता है। अपना मनोरंजन करने के लिये ये लोकगीत एवं नृत्य को किसी विशेष त्यौहार, मेला या उत्सव के अवसर पर गाते हैं। ये मुख्य त्यौहारो के अवसर पर अपने आपको जगंली पेड़ पौधे के पत्तों का परिधान बनाकर पहनते हैं। जंगली फूलों की माला महिलाएँ एवं जंगली छोटे फरों का माला पुरूष पहनते हैं। कुछ आदिवासी धोती साड़ी का भी प्रयोग करते हैं। आदिवासी महिलाएँ ब्लाउज का प्रयोग नहीं करके साड़ी से ही अपना बदन ढंकती हैं। पुरूष कमर से नीचे धोती पहनते हैं और उपर गमछा का ज्यादा प्रयोग करते हैं। कभी-कभी ये गमछा का प्रयोग पगड़ी के लिए भी करते हैं।

इनके नृत्यों में जतरा, सरहुल, करम सोहरई, वहा, छऊ इत्यादि हैं।

नाचनी :- यह नाचने वालो का एक पेशेवर वर्ग होता है जो गाँव-गाँव में जाकर अपने नृत्य का आयोजन का पैसे कमाता है। नचनी औरते होती हैं और उसके पति रासक कहते हैं। दोनों पेशेवर पार्टी के सदस्य होते हैं। इस परिवार के बच्चे भी बड़े होकर यही पेशा करते हें। इस नृत्य में तिरपाल या दरी बिछा दी जाती है। इसपर आभूषणों से सजी पैरों में घुँघरू बाँधकर नचनी नृत्य किया करती हैं। किसी भी कार्यक्रम के प्रारम्भ में नचनी वंदना प्रस्तुत करती हैं। कहीं-कहीं नृत्य में राधा-कृष्ण की लीलाएँ प्रस्तुत करते हैं। रसिक भी कलिया नृतय, कंस नृत्य, महिषा सुर नृत्य का अभिनय गीत द्वारा किया जाता है।

घटवारी :- इस लोक गीत नृत्य का आयोजन शादी ब्याह के अवसर पर होता है। बारात जब लड़की वाले के गाँव पहुँचती है तो खुले मैदान में इसका आयोजन होता है। इस विद्या के अंतर्गत युद्ध दृश्य दिखलाए जाते हैं। इसमें नाचने वालो के हाथों ढाल-तलवार रहती है।

जामदा :- इस लोकगीत नृत्य आरम्भ होने से पहले ढोल बजते हैं। गाने वाले के सामने दर्शक बैठे रहते हैं। बीच में चार नर्तक कतार में कूदकर आते

पूर्व शोध छात्रा, संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा

हैं। दो टुकड़ी में विभक्त होकर नाचने लगते हैं। गाने वाले मुँह से विचित्र-विचित्र आवाज निकालते हैं।

लूरो सवारो :- यह एक प्राचीन लोक कथा गीत है। आर्य एवं अनार्यों के बीच युद्ध होता है। आर्य बहुत शक्तिशाली थे पर आर्यों की टोली में नौकर के रूप में एक अनार्य था जिसे अनार्यों बने मिला लिया उसे जीतने पर राजा बना देने का प्रलोभन देता है। उसपर नौकर आर्यों के बल का स्थान ऐड़ी में बता देता है। इस प्रकार अनार्यों की विजय होती है।

सोहरई :- सोहरई दीवाली के अवसर पर होता है। यह लोकगीत नृत्य में चककर लिये जाते हें। इसमें लड़का एवं लड़की दोनों आमने-सामने पंक्तियों में खड़े होकर नृत्य करते हैं। गाने वाली टोली में भी पुरूष एवं महिलाएँ होती हैं। उदाहरणार्थ :-

गीत

पोखरा का पिंडिया में सारा हरा सिंबेर गाछ
चालू राजा चारेया मारे रे चलू
सब चरेय मारू राजा
बिन बिछी मारू रे
कोयला चारैय मती रे मारू
''पुरूष'' स्वर में

अर्थ तीर से सभी पक्षी को मारो परन्तु कोयल को नहीं मारो।[22]

जादूर :- गीत नृत्य के दौरान गीतों में संवाद के आयोजन होता है। एक दल ''और'' अर्थात् प्रश्न करता है। दूसरा दल ''कीर्त्तन'' अर्थात् उत्तर देता है। उदाहरणार्थ :-

गीत

एका तरा खराकी कोई पेलो
जूरी ढाक जूरी नगेरा
तरका तरी भिन्दरी कोई देलो
तेहे नैने जोड़ा नागेरा
पूरब तरा भिन्दरी कोई पेलो
जूरी ढाक जूरी डमा
पश्चिम तरा भिन्दरी कोई पेलो
तेहे नेने जोड़ा नागेरा
गुचा एराकालोत
गुचा मैना कालोत
तेहे नैने

अर्थ एक युवक युवती से पूछती है कि किस रास्ते में ढांक बज रहा है। मित्रों उसी रास्ते से चलो जिस रास्ते ढाक बज रही है। ओ चुवती किस रास्ते ढोल की आवाज आ रही है। एक जोड़ा शहनाई बज रही है, उसी रास्ते से चलो।

आदिवासियों के वाद्य के रूप में मादर का प्रयोग करते हैं। परन्तु नचनी जोकि पेशेवर वर्ग से आते हैं, बाँसुरी, हार्मोनियम, मुर्चंग, नगाड़े का प्रयोग करते हैं।

संगीत और मनोविज्ञान का संबंध

राकेश कुमार

मस्तिष्क से संबन्धित प्राकृतिक ज्ञान और उसकी क्रिया प्रणाली तथा अनुभूति, मनोविज्ञान के अंतर्गत आती हैं। संगीत के संबंध होने पर उसे संगीत का मनोविज्ञान कहा जाता है। मनोविज्ञान का कार्य शारीरिक उत्तेजना ओर चेतना के प्रभाव के संबंध को स्थापित करना हैं कोई भी नाद हमारी कर्णेन्द्रिय को किस प्रकार प्रभावित करता हैं यह सब संगीत के मनोविज्ञान की श्रेणी में आता हैं।

कोई भी ध्वनि एक विशिष्ट आन्दोलन संख्या की होने पर कर्णप्रिय लगती हैं और आंदोलन संख्या के घट बढ़ जाने पर कर्णकटु भी हो जाती हैं। पाश्चात्य विद्वानों का कहना हैं कि भिन्न-भिन्न ध्वनि जब कानों में पहुँचती हैं तो उन्हें समझने के लिए समय के अलग -अलग अंतरालों की जरूरत होती हैं। ''सीशोर'' के अनुसार 128 आंदोलन संख्यावाली ध्वनि को 09 second, 256 आंदोलन संख्या वाली ध्वनि को 07 second और 512 आंदोलन संख्या वाली ध्वनि को भी लगभग इतना ही समय आवश्यक है।

संगीत में ध्वनि जब ऊँचा-नीचापन होता है तो उसे स्वरों का आंदोलन संख्या या संवाद-सम्बन्ध के आधार पर देखा जाता हैं। संवाद संबंध में जो नाद कानों को प्रिय लगते हैं, उनके आधार पर संगीत की रचनाएँ की समझे जाते हैं यही कारण है कि किसी मोटर के हॉर्न को सुनकर हम सड़क से हट जाते हैं, जबकि सुरीला हॉर्न उतना भय पैदा नहीं करता। कोयल की कूक और शेर का दहाड़ से भी यह उदाहरण दिया जा सकता है।

नाद का छोटा-बड़ापन तीव्रता पर आधारित होता हैं इसका प्रभाव मस्तिष्क और हृदय पर जब पड़ता है तो पहले रक्त-क्रिया प्रभावित होती हैं और उसके बाद मानसिक अनुभूति के रूप में उसका रूपांतर होता हैं। नाद की तीव्रता नापने के लिए डैसिमल पद्धति को अपनाते हैं। इसे फॉन (Phan) नाम से भी जाना जाता हैं जिसके आधार पर बातचीत की ध्वनि का क्षेत्र 60 से 70 फॉन के मध्य में रहता हैं, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि एक बॉसुरियों के सम्मिलित नाद का स्तर 80 फॉन न होकर केवल 43 फॉन के लगभग ही होगा और 10 बॉसुरियो का नाद स्तर 50 फॉन के लगभग होगा, क्योंकि नाद की तीव्रता में अंतर आता है न कि उसके ऊँचे-नीचेपन में।

नाद की जाति के आधार पर नाद के पृयक अस्तित्व का अनुभव होता हैं, भले ही नाद का ऊँचा-नीचापन या छोटा-बड़पन कितना भी हो किसी भी सम्मिलित वादन में सितार, सरोद या शहनाई को नाद की जाति के कारण आसानी से पहचाना जा सकता हैं।

नाद का काल, नाद की विपुलता, नाद की स्पष्टता या उज्ज्वलता, नाद की दिशा, नाद का प्रकार, नाद की गति व कम्पन्न और तारता इत्यादि सभी का प्रभाव प्राणी मात्र पर पड़ता हैं। मनुष्य का चिन्तन, कल्पना और उसकी प्रेरणा संगीत के इन्हीं वैज्ञानिक तत्वों से प्रभावित होती रहती हैं।

मनुष्य के द्वारा संगीत की सृष्टि दो प्रकार से होती है। एक प्रेरणा के आधार पर और दूसरी उसके संचित ज्ञान के आधार पर। प्रेरणा के आधार पर प्रस्तुत संगीत, श्रोता को जल्दी आकर्षित करता

ग्राम नया रामनगर, जमालपुर, मुंगेर

हैं और संचित ज्ञान के आधार पर प्रस्तुत संगीत मिकेनिकल होने से मधुर तो लग सकता हैं, परन्तु अंतस्तुल को झकझोर नहीं सकता।

यही कारण हैं, परन्तु अंतस्थल को झकझोर नहीं सकता। यही कारण हैं कि जब हम किसी लोकगीत की धुन अनेक बार सुनते है तो उसके सीधे-सादे से चंद स्वरों की धुन हमें छू जाती हैं हम उसे अनेक बार सुनते रहे, तब भी वृक्ष नहीं होते, बल्कि रात-रातभर जागकर उसका आनंद लेते है, जबकि नियमों की परिधि में जकड़ी-शास्त्रीय संगीत की बंदिशें सुनकर वाह-वाह कर लेते है, परन्तु उसकी एक ही स्थायी को रातभर नहीं सुन सकते चन्द मिनटों में ही जम्हाई लेने लगते है।

संवेग, संवेदन और सिद्धांत का ज्ञान रखने वाला कलाकार सदैव सफल रहता है क्योंकि उसका संगीत श्रोता को तन्मय करने की क्षमता रखता हैं ''रंजको जन चितानाम् स रागः कमितो बुछैः। अर्थात विद्वानों ने उसी को राग कहा हैं जो प्राणी के चित्त शांत होता हैं। इसी को योगशास्त्र में समाधि सुख कहा गया हैं। चित्त की वृत्तियों का जब निरोध हो जाता हैं, तब द्रष्टा (अनुभव करने वाला अहम्) अपने स्वरूप में लीन (एकाकार) हो जाता हैं।

संगीत के मनोविज्ञान पर विचार करत समय संगीत या संगीतकार पर ही विचार करना पर्याप्त नहीं बल्कि संगीत का रस ग्रहण करने वाला श्रोता हमारा प्रधान पात्र। जिस प्रकार एक कलाकार में भाव पक्ष और कला-पक्ष सम्मिश्रण होता हैं, उसी प्रकार का श्रोता की मनः- स्थिति, उसकी शिक्षा मात्रता, अनुभव, प्रतिभा, कलाजन्म, आनंद को ग्रहण करने की क्षमता, मर्मज्ञता और उसकी सामाजिक स्थिति पर ही यह निर्भर करता हैं कि वह कला का आस्वादन करने में कितना समर्थ हैं। जब तक संगीत के द्वारा श्रोता के हृदय में सोये भाव जाग्रत न हो तब तक उसके ऊपर संगीत का कोई प्रभाव न होगा, अतः यह जरूरी है कि श्रोता सहृदय हो। समस्त रस साहित्य में कलाजन्म आनंद का अनुभव करने के लिए श्रोता का सहृदय होना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही श्रोता और संगीतकार नाद ब्रह्म में अवगाहन कर सकते हैं।

संगीत के मनोविज्ञान का लक्ष्य निराकार स्वर के साकार होने की प्रक्रिया और हृदय पर उसकी प्रतिक्रिया के परिणाम पर विचार करता हैं।

लोक संगीत सम्पदा

डॉ. अमृता कर्मकार

भारत में संगीत की सर्वप्रथम व्युत्पत्ति हजारों वर्ष पूर्व वैदिक काल से मानी जाती है। वेद अपौरूषेय है, इसलिए संगीत की उत्पति को किसी एक व्यक्ति से नहीं जोड़ा जा सकता है। भारत विशाल देश होने के नाते विभिन्न बहुमूल्य लोकसंगीतो से भरा है। लोकसंगीत सामान्य जनजीवन के बीच गूँजनेवाली बासुँरी की वह तान है, जिसके अंदर की धड़कन, सुखः दुख, हर्ष-विषाद तथा संस्कृति की एक साफ झलक दिखायी देती है। वैसे तो सम्पूर्ण लोकसंगीत या लोक साहित्य ही लोकजीवन की परम्परागत विरासत है, परन्तु उसके लोकसंगीत अपने माधुर्य एवं प्रभावोत्पादकता के कारण अधिक महत्वपूर्ण है। लोकसंगीत का इतिहास अत्यंत प्राचीन होने के कारण बहुत से विद्वानों का यह मानना है शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति लोकसंगीत से हुई है। लोकसंगीत लोकगीतों की आत्मा है। भारतीय लोकजीवन की सुन्दरतम प्रतिबिम्ब लोकसंगीत में दिखाई पड़ती है। लोकसंगीत सरल, सुंदर, अनुभूतिमय और संगीतमय होते है। यदि किसी समुदाय, वर्ग या जाति की भावनाओं, आस्थाओं एवं संस्कारों को जानना हो तो उसमें लोकसंगीत का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि लोकजीवन की वास्तविक भावनाओं की वास्तविक तस्वीर लोकसंगीत में ही मिलती है। संगीत के बिना लोकजीवन प्राण रहित शरीर के समान है। लोकसंगीत का कोई निर्धारित-लिखित विधान नहीं है। भारतीय लोकसंगीत पौरणिक और परम्परागत कथाओं से गूंथे हुए है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी ये लोकसंगीत विरासत से मिलते आ रहे है। मनुष्य की वास्तविक संस्कृति उसकी प्रथाओं, लोक-नृत्य, परम्पराओं, परम्परागत विश्वासों और लोकसंगीतों में अन्तर्निहित होती है। प्रकृति के गान में मनुष्य इस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जैसे कविता मे कवि, क्षमा में मनोबल और तपस्या में त्याग। लोकसंगीत के अंतर्गत लोकगीत, लोक नृत्य, लोक नाट्य सभी आ जाते है। यह सभी जब मिल जाते है तो लोकसंगीत का निर्माण होता है।

लोकसंगीत ग्राम्य संस्कृति की प्रहरी होते हुए भी ग्रामगीत प्रकृति के उदगार है। उनमें अलंकार, रस, छन्द नहीं केवल लय है। लोकसंगीत मानव-हृदय की प्रकृत भावनाओं की तन्मयता की तीव्रतम अवस्था की गति है, जो स्वर और ताल को प्रधानता न देकर लय धुन प्रधान होते है। लोकसंगीत शास्त्रीय नियमों का परवाह न करके सामान्य लोक व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव आनंद तरंग में छन्दोबद्ध सहज उदभूत करता है, और वही लोकसंगीत है। समय के साथ-साथ उसका विकास हुआ, और तब मनुष्य ने भाव-भंगिमा एवं भावनाओं की गहराई को समझते हुए शब्दों एवं गीतो को सीखा। यही लोकसंगीत के नाम से प्रचलित हुआ।

लोकसंगीत का महत्वः- भारतीय संगीत को समृद्ध करने में लोकसंगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत के शास्त्रीय रूप को विकसित करने में लोकधुनों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। अतः अभिजात्य संगीत को समझने के लिए लोकसंगीत का अनुशीलन आवश्यक है। किसी भी देश के राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन में लोकसंगीत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। लोक की वास्तविक संस्कृति, धर्म सदाचार और समाज का असली रूप ऐसे ही मौखिक साहित्य में विद्यमान है। लोकसंगीत में किसी प्रकार की गोपनीयता नहीं पाई जाती है अर्थात जो वस्तु जैसी है उसका यथातथ्य रूप में वर्णन होता

बंगाली टोला, लहेरियासराय, दरभंगा।

है। भारत का लोकसंगीत ग्रामीणांचल, वनांचल और गिरिअंचलो में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जितने भी विविध क्षेत्र है उससे भी अधिक तरह के नृत्य, उतने ही तरह के गीत और तंत्र वाद्य होते है।

लोकजीवन एवं लोक भाषा के मूल रूप को जानने में लोकसंगीत जितने सहायक है, उतने ही ये सामाजिक जीवन मे भावात्मक एकता कायम करने में है। ऐतिहासिक दृष्टि से लोकसंगीत का विशेष महत्व रहा है। आज भी हमारे गांव में बड़े उत्साह के साथ लोकसंगीत में इतिहास की अनेक टूटी कड़िया जोड़ी जा सकती हैं। ऐसे बहुत से गीत है जिनका आधार कोई न कोई ऐतिहासिक पुरूष या स्त्री का भी वर्णन किया गया है। लोकसंगीत का वर्णन भौगोलिक दृष्टि से ज्यादातर स्थानीय नदियां, गांवों तथा नगरों का उल्लेख लिया जाता है। कोशी क्षेत्र में कोशी मैया, कमला नदी तथा बागमती नदी का वर्णन कर गीत गाया जाता है, और नगरों में गंगा, यमुना, नदियों पर भी वर्णन किया गया है। लोकसंगीत शब्द अंग्रेजी के "Folk song" शब्द का अनुवाद है। चैम्बर्स डिक्शनरी में Folk song का अर्थ हैः-

"Any song or ballad originating among the people and traditionally handed down by them." (ऐसा कोई भी गीत जिसका उद्‌गम लोक में हो और जो परम्परागत रूप से ज्ञात हुआ हो।

लोकसंगीत सहज एवं मौलिक है। यह मन और मस्तिष्क की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। लोकसंगीत अमर्यादित है। यह जन्म से मृत्यु तक, रज कण से सम्पूर्ण धरा तक, दीपक से सूर्य तक, गागर से सागर तक सभी पक्षों को अपने में समेटे हुए है। लोकसंगीत किसी प्रकार की वर्जिश, सचेष्ट प्रयास की मांग नहीं करता है। प्रकृति लोकसंगीत की जननी है, प्रकृति के साथ अन्तर्क्रिया करते हुए ही मानव ने कंठ और वाद्य संगीत काभीविकास किया। लोकसंगीत में आर्थिक पक्ष की झलक सुनने को मिलता है और उसके माध्यम से विभिन्न प्रकार के पकवानो और सोने-चांदी के बर्तन का वर्णन किया जाता है। लोकसंगीत के माध्यम से हर्ष-उल्लास, उत्सव-त्यौहार, विभिन्न संस्कार आदि का वर्णन किया जाता है। यह सामाजिक दृष्टि से काफी महत्व रखता है। लोकसंगीत में वर्णित मानव जीवन के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान, रीति-रिवाज, संस्कृति, धार्मिक, विश्वास रूढ़ि, आपसी संबंध आदि का वास्तविक वर्णन मिलता है। लोकसंगीत में पारिवारिक संबंधों के स्नेह, प्रेम और करूणापूर्ण व्यवहार का चित्र तो कभी करूणा का भाव भर देता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों की सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति लोकसंगीत में जितनी मिलती है, उतनी और किसी में नहीं है। इसलिए लोकसंगीत को समाज का यर्थाथ संगीत माना गया है।

धार्मिक महत्वः- किसी भी समाज एवं जाति में धर्म का बड़ा महत्व होता है। लोकगीतों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं से सम्बंध तथा विभिन्न व्रत त्यौहार जो उनकी धार्मिक भावना को व्यक्त करते है। अलग-अलग अवसरों पर गाये जानेवाले गीत अपनी सरल भाषा और सुन्दर स्वरावली के कारण क्षेत्रीय जन-जीवन को तो आकर्षित करता ही है साथ ही लोकसंगीत के माध्यम से मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के जीवन में जितनी भी परिस्थितियां आती है उनका गुणगान शब्दों को छंद-बद्ध करके भावपूर्ण अभिव्यक्ति के साथ स्वरों के माध्यम से आम जन-जीवन तक पहुँच जाती है जो श्रोताओं को परमानंद की अनुभूति करवाती है। इन्हीं विभिन्न लोक भाषाओं में एक लोकभाषा ''भोजपुरी'' है जिसके अंतर्गत हम देवी-देवताओं के गीत गाकर उनकी अराधना करते है। जैसेः-

1) गाई के गोबरे महादेव आंगना लिपाई,
गजमती आहो महादेव चउका पूराई,
सुनी ए शिव, शिव के दोहाई

जिस तरह से हम शिव जी की अराधना करते हैं, उसी तरह देवी माँ का स्मरण भी जरूरी होता है। क्योंकि कई परिवारों में देवी गीत के माध्यम से कुलदेवी का स्मरण किया जाता है। जैसेः-

1) नीमियां के डाढ़ मइया लावेली हिलोरवा
कि झुली-झुली, मइया गावेली गीत
की झुली-झुली

इस तरह लोकगीतों के माध्यम से जन-मानस की धार्मिक भावनाएं अभिव्यक्त हुई है। गंगा माता, तुलसी माता, कोशी माता, शीतला माता, छठी माता के महत्व की गाथा लोकसंगीतों में गाई जाती है।

तुलसी माता के गीत कुछ इस प्रकारः-

जय जय तुलसी माता
सब जग की सुख दाता, वर दाता
सब योगों के उप्पर, सब रोगों के उप्पर
रूज से रक्षा करके भव त्राता।।

लोकसंगीत में समाज का बड़ा ही सुन्दर तथा सजीव चित्रण पाया जाता है। माता-पुत्री, पिता-पुत्र, भाई-बहन और पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम का जो दिव्य वर्णन मिलता है वह कहीं उपलब्ध नहीं होता। समाज के स्थिति का चित्रण इन संस्कार गीतों में बड़ा ही स्वाभाविक हुआ है। जन्म से लेकर मृत्यु तक के गीत इतनी स्वछन्दता-पूर्वक प्रकट होते है कि मनुष्य अपने समाज और अपनी मिट्टी से अनायास ही जुड़ जाता है। संस्कार संबंधी गीतों में जन्म, विवाह तथा अन्य संस्कार गीतों का उल्लेख मिलता है, क्योंकि वर्तमान समय चाहे हर्ष, उल्लास अथवा करूणा से भरे हुए हो, संगीत के बिना वे अपूर्ण होते है। संस्कार को समापन करते समय विशेष अनुष्ठान कर्म के साथ-साथ लोक-संगीत की भी अहम भूमिका होती है। समाज के मनु के आदर्शो का प्रभाव भले ही न पड़े पर इन लोकसंगीत एवं लोककथाओं का प्रभाव अवश्य पड़ता है। धार्मिक दृष्टि से लोकसंगीत का बड़ा महत्व है।

सांस्कृतिक महत्वः- लोकसंगीत के आधार को सांस्कृतिक कला माना गया है। इसलिए यह एक ओर समाज के लोगो की भावना, सोच, परम्परा, तथा विश्वास को प्रतिबिम्बित करता है तो दूसरी ओर उनके अन्दर आनेवाले परिवर्तन एवं उनके धारणा के बदले स्वरूप को उजागर करता है। संस्कृति की आधारशीला पुरातनता होती है। इसके मूल तत्वों के संबंध में जो तत्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं विचारणीय है, वह है अतीत का प्रभाव।

राम-लक्ष्मण के पुण्य चरित्र ही लोकसंगीत का सांस्कृतिक पक्ष माना गया है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लोकगीत को निम्न प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। लोकसंगीत के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि लोकसंगीत अधिकांश नारियों के द्वारा ही गाया जाता है। भारतीय जन मानस सांस्कृतिक मूल्यों का समुच्चय वैयक्तिक दृष्टि से भी और समष्टिगत रूप विधान के अनुसार से भी। सांस्कृतिक सिद्धांत उसके साथ जोड़े जाते है। सामाजिक जीवन में भी पग-पग पर विभिन्न सांस्कृतिक मूल्य कार्यरत रहते हैं। सामाजिक क्षेत्रों में संबंधों का सांस्कृतिक मूल्य कार्यरत रहते है। बहुमुखी सांस्कृतिक चेतना का प्राण संगीत है, इसलिए लोकसंगीत में इस प्रकार की विविधताएं पाई जाती है। वैयक्तिक दृष्टि से जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह और अंत में अंत्येष्टि जैसे संस्कारों में लोकसंगीत सांस्कृतिक मूल्यों का सहयोग देते रहते है।

मिथिला के संस्कार गीत सोहर संतानोत्पत्ति के अवसर पर ही गाया जाता है। टोले भर की स्त्रियाँ एकत्र होकर सोहर गाती हैं। जन्म से छः दिन तक यह मंगल समारोह चलता रहता है। मिथिला में सोहर के दो प्रकार मिलते है। एक में धार्मिक भावना भरी रहती है, जिसमे राम, कृष्ण के जन्म के गुणगान संबंधी उक्ति रहती है। दूसरे प्रकार के सोहर गीत में जन्म, विवाह, संस्कार आदि की उक्ति हुआ करती है। सोहर के गीत कुछ इस प्रकार हैं :-

"मथुरा जब हरि जनमल, गोखुला प्रगट भेल रे
ललना रे करए मधुर स्वर गान, सुरंग मेघ बरिसय रे"।।

दूसरी तरफ अगर हम भोजपुरी लोकसंगीत की ओर नजर डाले जो उसके अंतर्गत विविध प्रकार के गीत पाये जाते है। पूर्वी, निर्गुण, जतसारी आदि के अलावा, कजरी, झूला, चैती, घाँटों, पूर्वी के गीत जैसे- छठ पूजा के गीत, देवी पूजन गीत, फगुआ आदि, संस्कार गीत, कृषि गीत में जैसे- फसल गीत, रोपनी गीत, कटनी गीत और अन्यान्य प्रकारों में विकास गीत, जनजागरण गीत, योजना गीत आदि भोजपुरी लोकसंगीत के अंग हैं। भोजपुरी लोकगीतों की पक्तियाँ कुछ इस तरह हैं :-

पूर्वीः-

"मधुबनवा से मोर मोहन अइहें कि दू ना।।
सांवली सुरतिया फेरू देखइहें कि दूना,
हमरा अंगना में बंसिया बजइहें की दू ना"।।

पूर्वी शब्द का तात्पर्य पूरब क्षेत्र की गायकी से है। अधिकांश लोगों का मानना है कि बलिया, छपरा, सिवान, गोपालगंज, बक्सर, भोजपुर आदि में

भोजपुरी लोकसंगीत की यह विशिष्ठ शैली पाई जाती है। इस तरह के गीतों में विरह भाव की प्रधानता होती है।

जतसारीः-

1) कोउने देलकेय गेहुआँ, कोऊने देलकेय चंगेरिया,
अरे कौन बैरनिया चिरिया भैजे, जतरे सरिया, जात पीस भेजलकैय हो ना।।''
2) एक त मे बारी भोरी, दूसरे पिया के चोरी,
और सजनी रे आरे सजनी रे,
तीसरे बिरहिया जे रसबा के मातल रे की।।''

ग्रामीण महिलायें हाथचक्की चलाते समय जो गीत गाते है, उसे हम ''जतसारी'' के नाम से जानते है।

झूमरः- यह एक प्राचीन परम्परागत शैली है। प्रत्येक आनन्द उत्सव में इसे गाया जाता है। इस गाने का न कोई विशेष अवसर है, न कोई निश्चित समय। जब भी जी चाहे इसे हम प्रसन्नता से गाकर प्रकट कर सकते है।

''बगिया में फूले रामा बेली हो चमेलिया,
कोइलिया बनवा बोले हो सांवरिया।।
झूला झूलावे मोरा संग के सहेलिया,
पपीहरा रट लावे सांझ सबेरिया।।''

बारहमासाः- इस प्रकार के गीत मे बारहों महीनों का वर्णन किया जाता है। इसके गीत कुछ इस प्रकार हैः-

''प्रथम मास अषाढ़ हे सखी
सांझी चलल जलधार हे,
उमड़ी-घुमड़ी मेघ बरसन लागे
भींज गइले लाम्बी केस है।।''

चौमासाः- चौमासा गीत को तीन मुख्य ऋतुओं गर्मी, बरसात एवं ठंढ़ को चार महीने का माना जाता है। इसी तीन मुख्य ऋतुओं में यह गीत गाई जाती है।

नयी झूलनी की छैंया,
बलम दुपहरिया बिता ल हो।।
चार महीना के गरमी पड़त है,
टप-टप चुएला पसीनवा,
बलम तनी बेनिया डोलाई दे हो।।

कजरीः- वर्षा ऋतु में यह गीत गाई जाती है। जिसे हम कजरी के नाम से जानते है। इस ऋतु में मोर भी अपने पंख फैलाकर इस ऋतु का आनंद लेते है।

''माई वन बोलन लागे मोर
सावन में घिर आई कारी बदरिया
माई वन बोलन लागे मोर।।''

होली गीतः- भोजपुरी क्षेत्र में इसे फगुआ के नाम से जाना जाता है। माघ पंचमी से लेकर पूरे फागुन मास तक होली गीत गाई जाती है।

''मस्त महिना फागुन ऐले
रंग बसंती छोरी कन्हैया
खेले बिरज में होरी।।''

चैतीः- चैत महीने में गाए जानेवाले गीत को चैती या चैतावार कहते है। इसमे ''हो रामा'' की टेक लगाई जाती है।

''सूतल पिया के जगावे हो रामा,
तोरी मीठी बोलिया''

घाँटोः- यह गीत भी चैत मास में ही गाया जाता है। इस गाने में भी ''हो रामा'' की टेक लगाई जाती है।

''जलवा चढ़ावते में उड़ेला
अंचरवा हो रामा, शिव बाबा।।
मने-मने मुस्कइले हो रामा, शिव बाबा''।।

कृषि गीतः- किसान रोपनी के समय या फसल काटने समय अथवा अपने खेत-खलिहान को लहराते हुए देखकर जो गीत गाते है, उसे कृषि गीत कहते है।

1) ''अबकी अघनवा में कटबै जे धनवा
भरी जैते कोठी भंडार हो''।
2) ''हो अबकी धनवा बेच सजनवा
हमरा लाय द चुनरी''।।

विविध गीतः- विविध गीतों के अतंर्गत परिवारिक संबंधो पर आधारित गीत, सामजिक संबंधो पर आधारित गीत, देश-भक्ति संबंधी लोकगीत आदि है। लोकसंगीत का क्षेत्र व्यापक है। लोकसंगीत में जनजीवन का जितना सच्चा और स्वाभाविक वर्णन उपलब्ध होता है अन्य किसी में नहीं मिलता है।

समाज के वास्तविक स्वरूप की सही अभिव्यक्ति लोकगीत देता है। लोकगायक मानव समाज की जिस दिशा को देखता है उसी का वर्णन वह अपने गीत में करता है। लोकसंगीत हमारे सामाजिक संबंधो का परिचायक है। सम्पूर्ण अंग जनपद में ''सामा चकेवा'' के गीत भी प्रचलित हैं, जैसेः-

''घर पिछुरिया में चनन केरे गछिया
ओहि तरे खार भेली सामा बहिना
जोहे भैया के बाँटा।''

विवाह गीतः- विवाह गीत के अंतर्गत प्रत्येक विधि के गीत- मातृ पूजा, देवपूजा, द्वार पूजा, मटकोर, सिंदूरदान, विदाई आदि के सुन्दर गीत भोजपुरी भाषा में मौजूद है। सिन्दूरदान की रस्म का एक गीत हैः-

''लालका सिन्होरवा मे सेनूर भरल बाटे है,
उठी राजा रामचन्द्र करी करी सेन्दूर दान है।।
हाथ मे लेवे ताग पात कि गोद लिये लालन हे,
सुहाग सेनूर पड़ गइलें सीता के भरल मांग

भोजपुरी लोकगीतों का साम्राज्य अपरिमेय है। इसके शब्द, शब्दों में प्रयुक्त स्वर और तालों में गठित लय भोजपुरी परिवेश के जनजीवन को मर्मस्पर्शित करता है और इसकी धुनें एवं प्रस्तुतियाँ सहज ही हृदय को भावमय बना देती है।

लोकसंगीत की विशेषताएँः- लोक संगीत मानव की सभ्यता तथा संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं। लोक संगीत मानव जीवन के सुखः दुख को बताता है। यह देश की संस्कृति का रक्षक है। लोकसंगीत किसी नियम से बद्ध नहीं होता और उसमें धुनें तीन या चार स्वरों में ही बनती है। इनकी एक धुन पर हम बहुत सारे गीत गाते हैं। और अनेक वाद्यों का प्रयोग भी करते है। लोकसंगीत में भाव के अनुसार ताल तथा लय का निर्धारण किया जाता है। ये साधारण जन के सबसे निकट होते हैं। लोकसंगीत के माध्यम से मानव अपने भावों को अधिक पूर्णता से व्यक्त कर सकता है। लोकसंगीत में लालित्य कम और सौंदर्य अधिक है। लोकसंगीत में सभी रसों की निष्पत्ति होती है।

लोकगीतों में प्रयुक्त स्वर ताल एवं रसः- लोकगीतों में अधिकतर सात शुद्ध स्वरों और दो विकृत कोमल गंधार और कोमल निषाद स्वरों का प्रयोग होता है। अधिकांश लोकगीत शुद्ध स्वरों में गाये जाते है। कुछ लोकगीतों में कोमल गंधार लगता है तथा कभी-कभी यह गंधार कोमल एवं तीव्र के बीच का लगता है, जो गंधार की एक श्रुति है। किसी एक लोकसंगीत की स्वर-परिधि बहुत संक्षिप्त होती है।

उत्तर भारत के लोकसंगीत में प्रयुक्त होने वाले अवनद्ध एवं धन वाद्यों में से ढ़ोलक, खंजरी, झाँझ और करताल उल्लेखनीय है। इनमें भी ढ़ोलक सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। लोकसंगीत में ढ़ोलक पर केवल लय व सरल ताल दिखाना ही पर्याप्त होता है। यह कार्य भी अत्यन्त प्रभावशाली और रोचक ढंग से सम्पादित होता है। लोकगीतों में अधिकतर कहरवा, दादरा, खेमटा और दीपचन्दी तालों का प्रयोग मिलता है।

निष्कर्षतः- लोकसंगीत के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि इन लोकगीतों को अधिकांश नारियों के द्वारा ही गाया जाता है। नारियाँ आज भी पारम्परिक और संस्कृति की रक्षक बनी हुई है। वैसे भी नारियों का सम्पूर्ण जीवन ही गीतमय माना जाता है। वह अपने भावों से लोकसंगीत ही गीतमय माना जाता है। वह अपने भावों से लोकगीतों के माध्यम से वातावरण को सरस, सुन्दर और कोमल बना देती है। समाज आज भी पुरूष प्रधान देश है, इसलिए ज्यादातर नारियां ही चिन्तित रहती है। वो उनके मंगलकामना के लिए देवी-देवताओं से गुहार लगाती है और कभी व्रत-त्यौहार भी करती है। लोकसंगीत भी एक तरह की कला है जो समाज का सही चित्र प्रस्तुत करती है। आज भी गांवों में लोकगीत, लोकनाट्य तथा लोकगाथा प्रचलित है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1) गर्ग लक्ष्मी नारायण (सं.), संगीत, लोकसंगीत अंक संगीत कार्यालय, हाथरस, उ.प्र.
2) नारायण (डॉ.) पुष्पम (सं.), भैरवी, संगीत शोध पत्रिका, अंक-1, पृ.-36, मिथिलांचाल संगीत परिषद, ल.ना. मि.वि.वि., दरभंगा
3) भैरवी (संगीत शोध पत्रिका) अंक-2
4) शांत गोवर्धन, संगीत शास्त्र
5) भैरवी (संगीत शोध पत्रिका) अंक-3

जीवन में संगीत की महत्ता

डॉ. पुष्पवाणी

भारत की संगीत परम्परा गायन, नर्तन, वादन के उद्‌गम स्थल हमारे वेद माने गए है। ऋग्वेद, यजुवेद, अथर्ववेद एवं सामवेद में सामवेद ने संगीत का आदि ग्रंथ सामवेद माना है।

'सामवेदादिदं गीत संजग्राह पितामह'

ब्रम्हा ने सामवेद से, गायन के लिए, गीतों का संग्रह किया। भरतमुनि ने भी संगीत की उत्पत्ति सामवेद से स्वीकृति को है।

'साम्यभ्यो गीतमेव च'- अतः गीतगायन सामवेद से उत्पन्न हुए है। संगीत परम आनन्द प्रदान करता है। परमात्मा के सत्यम, श्विम्, सुन्दरम के प्रति स्वरबद्ध समर्पण का नाम संगीत है। मानव के अशान्त मन को शांति एवं तृप्ति संगीत से ही प्राप्ती होती है।

वैदिक काल से ही संगीत कला, सौन्दर्यानुभूति में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रही है। भारतीय संगीत को उत्पत्ति सरस्वती देवी एवं शिव जैसे देवी-देवताओं से मानी जाती है। इसे शास्त्रबद्ध एवं रीतिबद्ध करने का श्रेय बेजू बावरा, तानसेन, स्वामी हरिदास आदि संगीत तपस्वियों का दिया जाता है। संगीत को अध्यात्मिक उत्थान एवं सौन्दर्याभुभूति का साधन माना गया है। भारतीय संगीत के आशिक अमीर खुसरो 'तूती-ए-हिन्द' और घ्गालिबङ ने संगीत को दुनिया को जो रूप दियाा वह अप्रतिम इसके बाद मुहम्मद शाह रंगीला के दरबारी गायक सदारंग और अदारंग ने जो सुर बाँधे वह आज भी प्रशसंनीय है।

संगीत जगत के दो महर्षिओं ने पं. विष्णु दिगम्बर और पं. विष्णुनारायण भातखंडे ने संगीत कला को भारतीय समाज में गरिमापूर्ण स्थान दिलाया। उत्तर भारत और महाराष्ट्र में भ्रमण करते हुए शास्त्रीय संगीत का प्रचार किया। आगरा के उस्ताद फैयाज खान साहब एवं उस्ताद अबुल करीम खान साहब संगीत कला में आध्यात्मिकता प्रदान की। श्री अरविन्द भी इनकी आध्यात्मिक विशेषताओं से प्रभावित थे धीरे-धीरे संगीत कला आधात्मिकता के क्षेत्र से सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र से भी जुड़ गई। भारतीय शिल्प भारतीय दर्शन की भाँति भारतीय संगीत भी हमारी आत्मा का धरोहर बन गया। शनैः शनैः संगीत कला राजे-रजवाड़े और दरबारों से निकल कर घरानों में बसने लगी और संगीत की शैलियाँ की पहचान बनने लगी। उदा, ग्वालियर घराना, किराना घराना, पटियाला घराना आदि।

संगीत के विकास के लिए स्वातंत्र्योंत्तर काल का समय उत्थान का समय रहा है रेडियो के माध्यम से संगीत का समाजीकरण हुआ और संगीत कला जो राजाओं, नवाबों का शैक हुआ करता था, महफिलों की शोभा हुआ करता था। अब वह जन-सामान्य तक पहुँच गया। देश विदेश द्वारा सांगीतिक गतिविधयों को प्रोत्साहन मिलने लगा, जन सामान्य की रूचि के कारण, संगीत शिक्षण संस्थाएँ खुलने लगी, विश्वविद्यालयों में संगीत के माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी।

हिन्दुस्तानी संगीत देश की बदलती हुई परिस्थितियों एवं सच्चाईयों को अपने सौन्दर्य में अपने आनन्द में, आत्मसात करने लगा, समेटता गया। तुर्की, ईरानी, अरबी संगीत सौन्दर्य की धाराएँ

पूर्व शोध छात्रा, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग ल. ना. मि. वि., दरभंगा

इस तरह हिन्दुस्तरनी संगीत में समाने लगी जिस तरह सागर में नदियाँ समाती है। हिन्दू-मुस्लिम परम्पराएँ भक्ति की लहर बन कर, कव्वाली विधा के रूप में तराशी गयी। संगीतकारों ने अपने अल्लाह के साथ सरस्वती देवी को भी अपने सुरों की देवी के रूप में अपनाया दोनों धर्मों के काली कमलीवाले, और गोकुल के नंदू दुलारे एक हो गए थे। इस समय के प्रमुख संगीतकारों में उस्ताद अमीर खां, पं. रविशंकर, विलायतखां, पं. विनायकराव पटवर्धन आदि अनगिनत शख्सियत है।

स्वतंत्रता के पश्चात देश में संगीत सम्मेलनों का संगीत सभाओं का, संगीत चर्चाओं का आयोजन होने लगा। तत्कालीन प्रसारण मंत्री डॉ. बी. बी. केसकर संगीत प्रेमी थे। आकाशवाणी से उस समय प्रत्येक शनिवार संगीत के कार्यक्रम तथा आकाशवाणी संगीत सम्मेलन आरम्भ हुए। इस तरह संगीत का प्रचार बढ़ता गया। संगीत सौन्दर्य में श्री वृद्धि होने लगी। भारतीय सांस्कृतिक परिषद ने भारतीय कलाओं का विस्तार विशेषकर संगीत को भी विदेशों में पहुँचाया। विदेशी कलाकर भारत में और भारत के कलाकार विदेशों में संगीत कला को पहुँचाने का बीड़ा उठाया। पं. रविशंकर के साथ-साथ पं. चतुर लाल, उस्ताद अल्ला रक्खा आदि कलाकारों ने विश्वभर में संगीत का परचम लहराया।

पं. रविशंकर में पाश्चात्य संगीत के समन्वय को लेकर अनेक प्रयोग किए, उन्होंने पश्चिम जगत के महान वायलिन वादक बहुदी मेनुहिन के साथ मिलकर 'ईस्ट मीट्स दि वेस्ट' नामक एल्बम निकाला। कर्नाटक और हिन्दुस्थानी शैली के संगीत पर समान अधिकार रखनेवाले डॉ. एल. सुबह्मण्यम ने नवीन प्रयोग किए। उस्ताद जाकिर हुसैन ने भी प्रयोगात्मक का प्रचार किया। इस तरह संगीत कला विविधता में एकता बनाए रखनेवाली चिरकाल की कला है। संगीत की इसके इसी भावात्मक एकता में ही इसका सौन्दर्य निहित हे उर्दू के शायर ने कहा हैः-

चमन में इख्तलाते रंगों बू से बात बनती है,
तुम्हीं तुम हो तो क्या तुम हो,
हमीं हम है, तो क्या हम हैं।

आज भारतीय संगीत देश विदेश तक पहुँच गया। भारतीय संस्कृति का भारतीय संगीत एक अहम हिस्सा है विश्वभर में है। 'स्पिक मैके' इस कार्य अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। आज दुनिया भर में, देश विदेश की धरती पर, भारतीय संगीत की गूँज सुनाई दे रही है इसका उदा. इस समय स्टार प्लस से प्रसारित 'फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी' गीत माला है, जो समूचे विश्व के गायकों के हन्दुस्तानी माला में मोती की तरह पिरोए जा रही है। आज तकनीक के आधार पर संगीत कला में बदलाव आया है, ईलेक्ट्रॉनिक उपकरणों से, ऊँगलियों के निदेश से एक उपकरण से कही वाद्यों की ध्वनियाँ निकाली जा सकती है। भारतीय चिंतन में संगीत को ब्रह्मा की उपासना माना गया है, जबकि पाश्चात्य में ऐन्द्रिय सुख और विलासिता का साधन मानता है।

आधुनिक युग में भी यह स्वीकार किया गया है कि, संगीत हमारे मन को ही नहीं बल्कि शरीर और मस्तिष्क को भी शुद्ध करता है। संगीत की ध्वनि हमारे रोग प्रतिरोधक प्रणालि को मजबूत बनाती है। हृदय की गति एवं श्वसन प्रक्रिया को धीमा करती है, तनाव से मुक्ति मिलती है। इसलिए संगीत चिकित्सा का प्रयोग निरन्तर बढ़ रहा है। संगीत से एकाग्रता बढ़ती है। इसके लय ताल से शरीर का संतुलन बनाया जाता है। संगीत तरंगों द्वारा रक्त का बहाव बढ़ता है मशीनों द्वारा ध्वनि तरंगे उत्पन्न कर रोगी का इलाज किया जाता है। इस पद्धति को उपधातिक पद्धति (टोमाटिस मैथड कहा जाता है जिस से रक्तश्राव कम किया जा सकता है। फिजियोथैरेपी में साउण्ड थैरेपी का प्रयोग होता है। ध्वनि चिकित्सा द्वारा मासपेशीयों, जोड़ों का दर्द, साइटिका आदि में इसका लाभ मिलता है। शंखनाद से श्वास यंत्र...शंखनाद से श्वासयंत्र का व्यायाम होता है, बांसुरी से मन शांत होता है, घंटों से, ढपली से नाकरात्मक ऊर्जा समाप्त की जा सकती है। संगीत चिकित्सा का महत्त्व इसलिए भी है कि शारीरिक के साथ-साथ मानसिक होते है। माइग्रेन के रोगी को मोहना राग से ठीक किया जा सकता है। म्युजिक थेरेपी के प्रयोग में सुबह, दोपहर, शाम के लिए अलग-अलग राग है।

मंत्रोद्वारा रोगों को दूर करने का प्रयोग अत्यन्त

प्राचीन है। शब्दों के प्रभाव से श्वास नली, फेफड़े शुद्ध वायु का संचार होता है। हृदय की गति साधारण बनी रहती है। संगीत और स्वास्थ्य का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन में निराश, तनाव, सिरदर्द को दूर करने के लिए संगीत सुनने से दिमाग तरोताजा हो जाता है।

इस तरह संगीत मन, शरीर, आत्मा, परमात्मा से सम्बधित सभी भावात्मक इच्छाओं की पूर्ति का वास्तविक सौन्दर्य संगीत ही है। संगीत ही मनुष्य के जीवन को चरम आनन्द प्रदत्त करता है।

संदर्भ सूची -

1. हिन्दी विवेक, पत्रिका
2. फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी, गीत माला
3. गोल्डन एरा, अनू कपूर
4. गगनांचल, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
5. आकाशवाणी, शास्त्रीय संगीत
6. दूरदर्शन क्लासिकल म्यूजिक कार्यक्रम
7. Insync चॅनल पर क्लासिकल म्यूजिक
8. D. D. भारतीय सांस्कृतिक कार्यक्रम